17abhay:Layout 1 2/5/2016 3:57 PM Page 579

रीतिकाल-संहार और नायिका-द्वेष

साहित्येतिहास की एक अनर्थकारी परिघटना

अभय कुमार दुबे

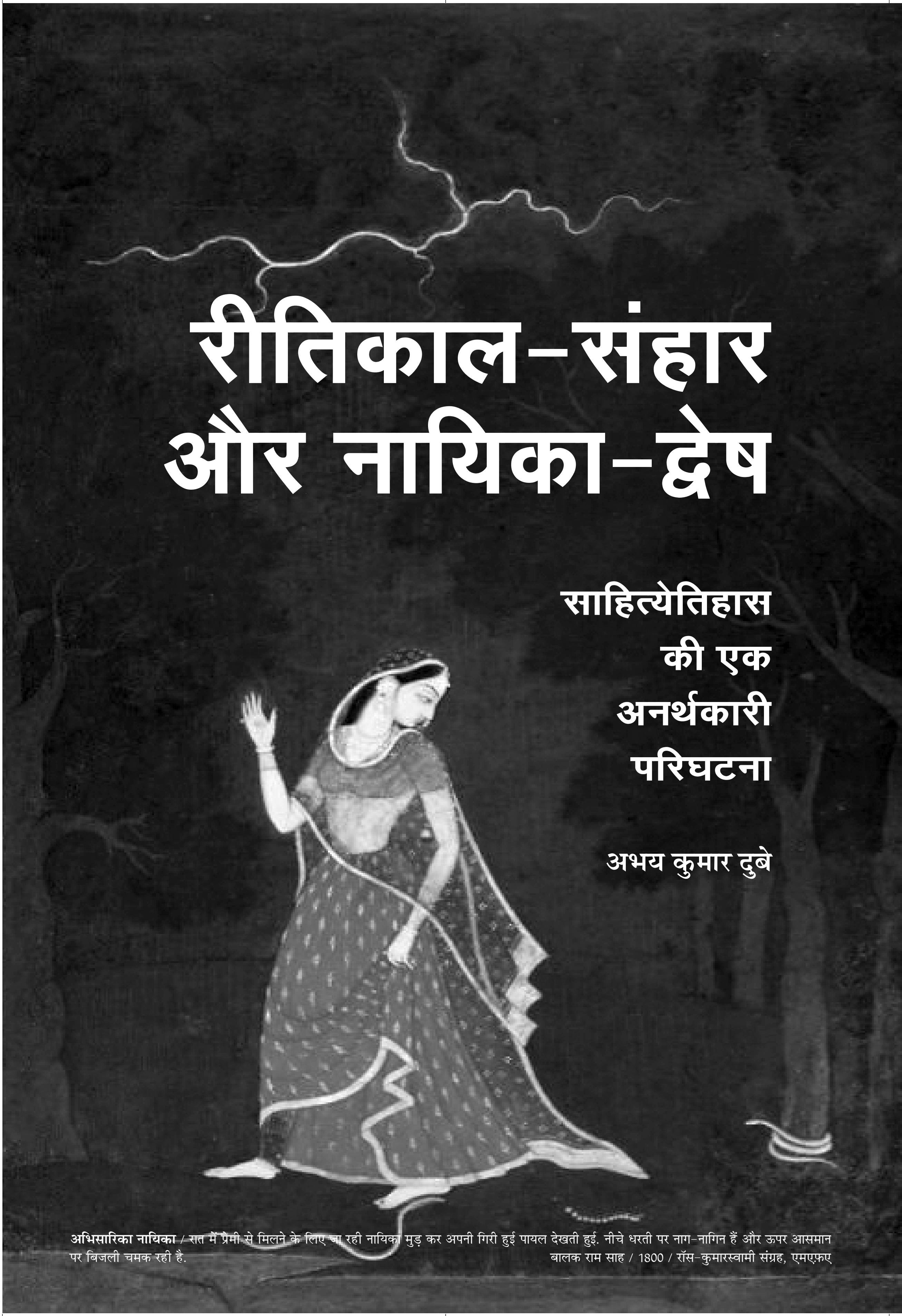

अभिसारिका नायिका / रात में प्रेमी से मिलने के लिए जा रही नायिका मुड़ कर अपनी गिरी हुई पायल देखती हुई. नीचे धरती पर नाग-नागिन हैं और ऊपर आसमान पर बिजली चमक रही है.
बालक राम साह / 1800 / रॉस-कुमारस्वामी संग्रह, एमएफ़ए

17abhay:Layout 1 2/5/2016 3:57 PM Page 580

वह बीसवीं सदी का पहला वर्ष था जब महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'नायिका-भेद' शीर्षक निबंध लिख कर हिंदी साहित्य में रीतिकाल-संहार और नायिका-द्वेष की आधारशिला रखी। मुख्य तौर पर व्यंग्यात्मक लहज़े वाले दो हज़ार शब्द से भी छोटे इस निबंध का बुनियादी सरोकार साहित्यिक कम और सामाजिक-राजनीतिक अधिक था। अगर आचार्य द्विवेदी का मक़सद साहित्यिक होता तो वे रीतिकालीन कविता के रूपविधान की आलोचनात्मक समीक्षा भी करते, पर उनकी दृष्टि सामाजिक और राजनीतिक थी। इसलिए, पूरे लेख में उन्होंने रीतिकालीन कविता के केंद्रीय तत्त्वों में से एक नायिका-भेद और नख-शिख वर्णन पर ही आक्रमण करना पसंद किया। यह मानने के बाद कि नायिका-भेद संस्कृत-साहित्य की देन है, आचार्यप्रवर ने घोषित किया कि 'अल्पोपयोगी नायिका-भेद' का 'वर्णन संस्कृत में होने के कारण इतना उद्वेगजनक और हानिकारक नहीं जितना सुरतारम्भ, सुरतांत और 'विपरीत' में विलग्न होने वाले हमारे हिंदी कवियों का है।' यहाँ सुरत शब्द का जो प्रयोग किया गया है, उसका अर्थ रति और कामक्रीड़ा से है। विपरीत शब्द को उद्धरण-चिह्नों के बीच रख कर द्विवेदीजी ने रीतिकालीन कवियों की उस प्राथमिकता पर टिप्पणी की जिसके तहत वे सम्भोग-क्रिया में स्त्री द्वारा विपरीत-रति द्वारा सक्रिय और नियंत्रक स्थिति प्राप्त करने को देते थे। अपना सामाजिक-राजनीतिक उद्देश्य पूरा करने के लिए ज़रूरी था कि द्विवेदीजी रीति-साहित्य के केंद्रीय रूपक राधा-कृष्ण युगल को भक्ति-कविता में वर्णित राधा-कृष्ण युगल से पूरी तरह अलग करके दिखाते। इसलिए उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि 'परंतु यदि कोई यह कहे कि यह भेद-वर्णन राधा-कृष्ण के उपासना-तत्त्व से संबंध रखता है तो उनका यह कथन कदापि मान्य नहीं हो सकता।' यह रेखांकित करने के बाद कि जो संस्कृत के लिए ठीक है, वह हिंदी के लिए ठीक नहीं है, और जो भक्ति का उद्देश्य था वह रीति का नहीं है, द्विवेदीजी ने अपने लेख में स्त्री द्वारा विभिन्न रूपों में पहल और सक्रियता के साथ किये जाने वाले प्रणय-निवेदन को 'सदाचरण का सत्यानाश', 'युवकों को कुपथ पर ले जाने वाली … युक्ति' क़रार दिया। उन्होंने बेहिचक सिफ़ारिश की कि 'इस प्रकार की पुस्तकों का बनना शीघ्र ही बंद हो जाना चाहिए, और यही नहीं, किंतु आज तक ऐसी-ऐसी जितनी इस विषय की दूषित पुस्तकें बनी हैं उनका वितरण होना भी बंद हो जाना चाहिए।' सामाजिक और व्यावसायिक सेंसरशिप की प्रचण्ड संस्तुति के बाद आचार्य द्विवेदी ने इस कटाक्षपूर्ण टिप्पणी के साथ अपने लेख का उपसंहार किया कि 'परंतु हमारी भाषा के कवियों ने नायकों के ऊपर इस प्रकार की पुस्तकें नहीं लिखीं। इसलिए हम उनको अनेक धन्यवाद देते हैं। यदि कहीं वे इस ओर भी अपने कवित्व-शक्ति की योजना करते, तो हमारा कविता-साहित्य और भी अधिक चौपट हो जाता।'[1]

द्विवेदीजी ने … रीतिकाल-संहार और नायिका-द्वेष की आधारशिला रखी। … स्त्री द्वारा विभिन्न रूपों में पहल और सक्रियता के साथ किये जाने वाले प्रणय-निवेदन को 'सदाचरण का सत्यानाश', 'युवकों को कुपथ पर ले जाने वाली युक्ति' क़रार दिया।

कोई सौ साल बाद जब भारत यायावर के सम्पादन में पंद्रह

[1] महावीरप्रसाद द्विवेदी (1901), 'नायिका-भेद', *रसज्ञ-रंजन* पुस्तक में संकलित, भारत यायावर (सम्पा.) : 55-58.

17abhay:Layout 1 2/5/2016 3:57 PM Page 581

यह साबित करने के बाद कि केशव में न तो आचार्यत्व था और न ही कवित्व, रामचंद्र शुक्ल ने अपना दूसरा हमला रीति-कविता की श्रृंगार-प्रधानता, नायिका-भेद और नख-शिख वर्णन पर किया। ... द्विवेदी का लहज़ा नैतिकतापरक था, और शुक्ल का काव्यशास्त्रीय। नतीजा दोनों का वही निकला जिसकी संस्तुति आचार्य द्विवेदी ने की थी। रीतिकाल पर बंदिश लग गयी।

आचार्य केशव दास

खण्डीय *महावीरप्रसाद द्विवेदी रचनावली* प्रकाशित हुई तो उसके दूसरे खण्ड के सम्पादकीय में द्विवेदीजी के इस 'प्रारम्भिक निबंध' को 'उनके समय में ... क्रांतिकारी' क़रार दिया गया। सम्पादक की इस बात का एक मतलब यह निकलता है कि 'नायिका-भेद' द्विवेदीजी के 'आज भले ही अप्रासंगिक' लगने वाले विचारों में गिना जाना चाहिए।[2] इसके विपरीत मैं इस लेख में दिखाना चाहता हूँ कि द्विवेदीजी के ये विचार न केवल हिंदी साहित्य की विशाल दुनिया के लिए आज भी पूरी तरह से प्रासंगिक बने हुए हैं, बल्कि उनकी अमिट छाप साहित्य के इतिहास-लेखन पर लगी हुई है। 'नायिका-भेद' लिखने के ढाई दशक बाद द्विवेदीजी को रीतिकाल के एक महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर मतिराम की ग्रंथावली पर अपने विचार व्यक्त करने का मौक़ा मिला। इस समीक्षा में उन्होंने मान लिया कि वे कवि मतिराम की कविता के मर्मज्ञ तो क्या, ज्ञाता भी नहीं हैं।[3] दरअसल, जो काम द्विवेदीजी ने अधूरा छोड़ा या जो काम द्विवेदी युग में पूरा नहीं हो पाया, उसे कोई तीस साल बाद शुक्ल युग में स्वयं आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपनी यशस्वी रचना *हिंदी साहित्य का इतिहास* में काव्य-मर्मज्ञता के औज़ारों का सहारा लेकर पूरा किया। क़रीब दस साल बाद हजारी प्रसाद द्विवेदी ने *हिंदी साहित्य की भूमिका* में इस प्रवृत्ति पर एक नरम सी आपत्ति दर्ज कराई लेकिन रीति-संहार के अनवरत सिलसिले पर कोई असर नहीं पड़ा। परम्परावादी हों, उदारतावादी हों या मार्क्सवादी विद्वानों और भाष्यकारों के एक लम्बे सिलसिले ने इसे उत्तरोत्तर पुष्ट किया जिनमें रामविलास शर्मा का नाम प्रमुख है। संहार और द्वेष के इस विकट साहित्यिक-सांस्कृतिक अभियान में विघ्न डालने वाली आवाज़ें या तो साहित्यिक लाठी-चार्ज और आँसू गैस की शिकार हुईं, या उन्हें लगातार अनसुनी और उपेक्षा के ज़रिये कोने में धकेला जाता रहा। बीसवीं सदी के आख़िरी दौर में हिंदी के दरवाज़े पर दस्तक देने वाले नारीवाद ने वैसे तो साहित्येतिहास और उसके प्रवक्ताओं के ऊपर जेण्डर के दृष्टिकोण से कुछ

---

[2] *महावीर प्रसाद ग्रंथावली* (2011) के दूसरे खण्ड में भारत यायावर का सम्पादकीय. उन्होंने जिस तरह इस लेख का लम्बा उद्धरण पेश किया है उससे एकबारगी यह भी लग सकता है कि सम्भवत: वे इन विचारों को आज भी अप्रासंगिक नहीं मानते.

[3] वही, 'मतिराम-ग्रंथावली' (*माधुरी* : अक्टूबर, 1926) : 188-89.

17abhay:Layout 1 2/5/2016 3:57 PM Page 582

सवालिया निशान लगाए, लेकिन कुल मिला कर वह भी संहार और द्वेष के इस सिलसिले को मौन भाव से देखता रहा। उसने यह समझने की कोशिश नहीं की कि स्थापित आलोचक-मण्डली के जिस आक्रमण का सामना उसे करना पड़ रहा है, उसके सूत्र मुख्य रूप से इसी संहार और द्वेष की परिघटना के साथ जुड़े हुए हैं।

रीतिकाल आधुनिक हिंदी के उदय से ठीक पहले का युग था जिसमें संस्कृत के काव्यशास्त्रीय विमर्श का ब्रजभाषा के ज़रिये जम कर देशीकरण हुआ, भक्तिकाल के अलौकिक और आध्यात्मिक शृंगार की जगह लौकिक और ऐंद्रिक शृंगार को महत्त्व दिया गया, नायक की जगह नायिका को प्रमुखता मिली, और मनुष्य के व्यक्तित्व की परिभाषा एक सेक्शुअल हस्ती के रूप में करने की चेष्टा की गयी। सवाल यह है कि महावीरप्रसाद द्विवेदी से लेकर रामविलास शर्मा तक की परम्परा ने इस युग में आधुनिकता की तरफ़ संक्रमण करने वाले आयाम न देख कर उसे पतनशील और लोकधर्म के लिए घातक क्यों क़रार दिया? आचार्य द्विवेदी और आचार्य शुक्ल निरीश्वरवादी नहीं थे, पर रामविलास शर्मा ने उन्हें बुद्धिवादी और वैज्ञानिक मानस से सम्पन्न लोकधर्मी आचार्यों की तरह चित्रित किया है। इसके अलावा रामविलास शर्मा व्यापारिक पूँजीवाद के ज़रिये प्राक्-आधुनिकता के बड़े पैरोकार भी हैं। जो बात द्विवेदी-शुक्ल नहीं देख पाए, वह उन्हें तो दिखाई देनी चाहिए थी? फिर, अगर वे भी नहीं देख पाए तो आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के प्रशंसकों और शिष्यों को तो ये पहलू दिखाई देने चाहिए थे। आख़िरकार इस आचार्य-परम्परा में हजारी प्रसाद द्विवेदी ही अकेले स्वर हैं जो रीतिकाल-संहार और नायिका-द्वेष से असहमत होते हुए काव्य-रचना की इस अवधि को संस्कृत-साहित्य की उन शास्त्रोक्त परम्पराओं से जोड़ते हैं जिनका उत्स वात्स्यायन रचित *कामसूत्र* और सेक्शुअलिटी अध्ययन परम्परा में है। यह अलग बात है कि इस ज्ञान-परम्परा को हिंदी के साहित्येतिहास में अदृश्य बना दिया गया है।[4]

हिंदी का यह रीतिकाल-संहार और नायिका-द्वेष उस समय अपने नवीन संस्करण में सामने आया जब स्वातंत्र्योत्तर आधुनिकीकरण की संश्लिष्ट प्रक्रिया के गर्भ से समाज के फ़लक पर एक नयी नायिका की सक्रियता रेखांकित हुई। रीतिकालीन आचार्य-कवि जिस नायिका के इर्द-गिर्द अपना विमर्श और रचनाशीलता गूँथ रहे थे, वह उनके काव्य-ग्रंथों के पृष्ठों पर निश्चित रूप से मुखर थी, लेकिन सम्भवत: तत्कालीन समाज में उसकी अभिव्यक्तियाँ अपेक्षाकृत मौन थीं। इस समीकरण को बदलते हुए बीसवीं सदी के आख़िरी तीन दशकों में उभरी आधुनिकीकृत नायिका की आवाज़ जीवन के हर क्षेत्र में गूँजती सुनाई पड़ी। साहित्य के क्षेत्र में भी वह न केवल साहित्यकार के रूप में सामने आयी बल्कि उसने अपने जैसी नायिकाओं को बड़े पैमाने पर कल्पित भी किया। यह नायिका नारीवाद, उदारतावाद, मार्क्सवाद और आधुनिकताप्रदत्त अन्य वैचारिक औज़ारों से लैस थी। इस नारीवादी नायिका के साथ द्विवेदी-शुक्ल द्वारा स्थापित और रामविलास शर्मा द्वारा पुष्ट रीतिकाल-संहार और नायिका-द्वेष की परिघटना ने तक़रीबन वही सुलूक किया जो रीतिकालीन नायिका के साथ किया गया था। संहार और द्वेष के इस नवीन संस्करण में हिंदी के मार्क्सवाद ने भी अपनी भूमिका निभायी।

मैं इस लेख में दिखाना चाहता हूँ कि रीति-संहार की इस परम्परा पर आधारित विचार-सरणियों का इस्तेमाल साहित्य-लेखन की नयी प्रवृत्तियों पर बंदिशें लगाने के लिए भी किया गया। साहित्य-लेखन के माध्यम से संसाधित हो रहे नारीवादी विचार और सेक्शुअलिटी की अभिव्यक्तियाँ इसके

---

[4] हजारी प्रसाद द्विवेदी (1981), 'रीति-काव्य' शीर्षक से लिखे गये इस अध्याय के एक पृष्ठ से अधिक लम्बे उपसंहार में द्विवेदीजी ने *कामसूत्र* और उसकी परम्परा की जीवंतता के लिए रीतिकाल को रेखांकित किया है. इसी परम्परा पर उन्होंने अपनी एक अन्य रचना *प्राचीन भारत के कला-विनोद* में भी रोशनी डाली है. हजारी प्रसादजी के शिष्य उनकी अन्य बातों को तो उभारते हैं, पर उनके विमर्श के इस हिस्से पर लगातार एक रणनीतिक चुप्पी साधे रहते हैं : 123-35.

17abhay:Layout 1 2/5/2016 3:57 PM Page 583

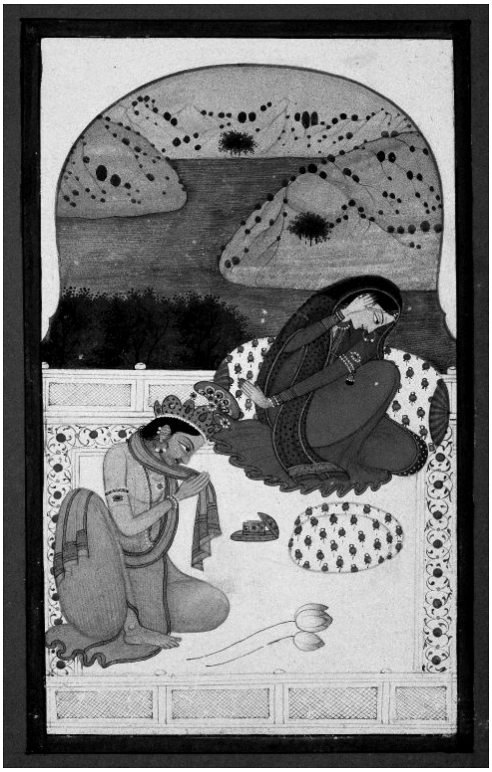

अपने प्रेमी को धिक्कारती हुई प्रेयसी : खण्डिता नायिका
—अज्ञात चित्रकार / ब्रुकलिन संग्रहालय / 1790 से 1830 के बीच

ज़रिये विशेष रूप से निशाना बनाई गयीं। प्रेम, यौनिकता और निजी जीवन में स्वायत्तता का दावा करने वाली स्त्री को बीसवीं सदी के पहले वर्ष में जिस साहित्यिक-सांस्कृतिक आक्रमण का सामना करना पड़ा था, वह आज साहित्य के क्षेत्र में स्त्री होने के नाते अपनी अलग पहचान का दावा करने वाली स्त्री पर आक्रमण तक विकसित हो गया है। चूँकि यह मसला साहित्य के इतिहास-लेखन से संबंधित है, इसलिए इस अवसर का लाभ उठा कर मैं हिंदी के साहित्येतिहास की गुणवत्ता पर विचार करते हुए यह भी बताना चाहूँगा कि यह इतिहास-लेखन किस मुक़ाम पर खड़ा है। यह चर्चा तीन भागों में बाँटी गयी है। पहला भाग रामचंद्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी और साहित्य के इतिहास का लेखन करने वाले अन्य प्रयासों पर आलोचनात्मक दृष्टि डाल कर रीतिकाल के इर्द-गिर्द चले विमर्श की संरचना पेश करता है। दूसरे भाग में उस स्त्री-द्वेष को रेखांकित किया गया है जो हिंदी के साहित्येतिहास का एक स्वभाव है। स्त्री-द्वेष की इन्हीं संरचनाओं का परिणाम रीतिकाल-संहार और पिछले तीन दशकों में उभरे हिंदी के नारीवाद के साथ इसके शत्रुतापूर्ण संबंध के रूप में उसकी निरंतरता के रूप में निकला है। तीसरे भाग में इस प्रकरण की रोशनी में यह समझने की कोशिश की गयी है कि साहित्य के इतिहास-लेखन की नयी प्रवृत्तियों (जैसे, न्यू-हिस्टोरिसिज़्म और लिटरेरी कल्चर्स) से हिंदी के साहित्येतिहास का क्या संबंध है, और इस संबंध को नये सिरे से विन्यस्त करने से किस तरह यह साहित्येतिहास स्त्री-द्वेष से मुक्त हो सकता है।

I

एक 'सेकुलर' काव्य और नायिका-भेद का तात्पर्य

रीतिकाल रामचंद्र शुक्ल के साहित्येतिहास[5] द्वारा नामित और परिभाषित 1640 से 1840 के बीच दो सौ वर्ष तक फैली वह अवधि है जिसमें रामविलास शर्मा के अनुसार 'पतित' सामंती वर्ग के साहित्य की रचना हुई और जिससे पीछा छुड़ाना और जिसके दुष्प्रभाव से मुक्ति के बिना हिंदी साहित्य की अग्रगति सम्भव नहीं थी।[6] रामविलासजी यह भी बताते हैं कि किस प्रकार बालकृष्ण भट्ट से लेकर निराला और उनसे लेकर प्रत्येक साहित्यकार ने रीतिकाल-संहार को अपना लक्ष्य बनाया।

---

[5] रामचंद्र शुक्ल (1940/2007) : रीतिकाल संबंधी अध्याय : 'उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल 1700-1900)' : 159-277.

[6] रामविलास शर्मा (1981) : 96-101. यह लेख 1955 का लिखा हुआ है. रामविलास शर्मा यहाँ रामचंद्र शुक्ल से पूरी तरह से सहमत हैं कि न तो रीतिकालीन आचार्यत्व में कोई दम है और न ही काव्य में. उल्लेखनीय है कि अपने विशाल वाङ्मय में रामविलास शर्मा ने हर जगह सामंती वर्ग को पतित या पतनशील नहीं कहा है. वे व्यापारिक पूँजी को प्रोत्साहन देने वाले सामंती वर्ग की प्रशंसा करते हैं. लेकिन उनकी निगाह में रीतिकालीन काव्य-परम्परा उसके आश्रयदाता सामंती वर्ग के साथ ही नष्ट हो जाने के लिए अभिशप्त थी.

17abhay:Layout 1 2/5/2016 3:57 PM Page 584

रीतिकाल को पतित, सामंती और नष्ट होने के लिए अभिशप्त बताने वाले विमर्श के समांतर इस परम्परा की एक वैकल्पिक तस्वीर खींची जा सकती है। यह एक ऐसी अवधि थी जब ब्रजभाषा में काव्यशास्त्र और काव्य की बड़े पैमाने पर रचना हुई। इसमें न केवल संस्कृत के काव्यशास्त्र को आधार बनाया गया, बल्कि उससे परे जाते हुए उल्लेखनीय नवाचार करते हुए एक नये काव्यशास्त्र का पूरा ढाँचा ही खड़ा कर दिया गया। संस्कृत-साहित्य की दुनिया में काव्यशास्त्र के आचार्य और कवि की हस्तियाँ अलग-अलग होती थीं, पर यह एक ऐसा अनूठा काल था जब आचार्यत्व और कवित्व का मणिकांचन संयोग हुआ। जो आचार्य था, वही कवि भी था। जो सैद्धांतिक थे, वही अभ्यासकर्ता भी थे। काव्यशास्त्रीय निरूपण संस्कृत के सीमित दायरे से निकल कर जन-भाषा में होने के कारण रचना-प्रक्रिया की बारीक़ियाँ आम लोगों के लिए सुलभ हुईं। बहुत बड़े पैमाने पर अभिजन से लेकर सर्वजन तक ब्रजभाषा में काव्य-रचना की लोकतांत्रिक सम्भावनाएँ न केवल खुलीं, बल्कि ठोस धरातल पर घटित होने लगीं। कवित्त, सवैये और दोहे लिखना और सुनना-सुनाना लोकप्रिय जन-संस्कृति की गतिविधियों का सामान्य अंग बन गया। ब्रजभाषा के काव्य और उसके साथ-साथ विकसित होने वाली काव्यकला की यह व्याप्ति केवल हिंदी-क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रही, बल्कि उसने महाराष्ट्र और दक्षिण भारत को भी स्पर्श किया। स्वाभाविक तौर से उसका एक रिश्ता उर्दू-साहित्य के तत्कालीन विकास से भी बना। ब्रजभाषा की काव्य-रचना को उर्दू और फ़ारसी के लफ़्ज़ अपनाने से परहेज़ नहीं था, और दूसरी तरफ़ उस ज़माने में रेख़्ता, रेख़्ती या हिंदवी की रचनाशीलता भी जनपदीय भाषाओं के साथ गहरी दोस्ती से लाभान्वित होती थी।[7]

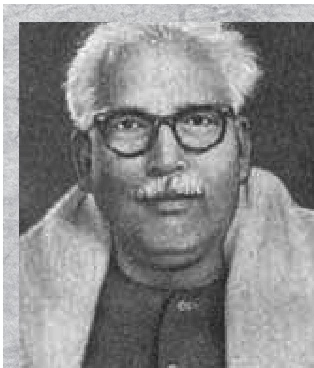

आचार्य-परम्परा में हजारी प्रसाद द्विवेदी ही अकेले स्वर हैं जो काव्य-रचना की इस अवधि को संस्कृत-साहित्य की उन शास्त्रोक्त परम्पराओं से जोड़ते हैं जिनका उत्स वात्स्यायन रचित *कामसूत्र* और सेक्शुअलिटी अध्ययन परम्परा में है।

रीतिकाल के काव्यशास्त्र और कविता के केंद्र में नायिका[8] की शख़्सियत थी, वही नायिका जिसके बारे में रामविलास शर्मा ने तिरस्कारपूर्वक लिखा है कि 'कवि और उनके आश्रयदाता नारी को नायिका से अधिक कुछ न समझते थे'। भरत के *नाट्यशास्त्र* में यह नायिका नाटक के मंच पर सक्रिय रहने के लिए कल्पित की गयी थी और वात्स्यायन के *कामसूत्र* में इसकी गतिविधियाँ गणिकालय की परिधि में सीमित थीं। रीतिकाल ने इस नायिका को संस्कृत-साहित्य से ग्रहण करके कहीं अधिक व्यापक रूप प्रदान करते हुए समाज की आधारभूत संस्था परिवार के भीतर और उसके इर्द-गिर्द चलने वाले मानवीय संबंधों के मर्म में स्थापित किया। अपनी इसी नायिकोन्मुखता के कारण रीतिकाल द्वारा स्त्री का किरदार विशेष रूप से रेखांकित हुआ और उसके काव्यशास्त्रीय विमर्श में स्त्री ख़ास तरीक़े से संसाधित हुई। इस लिहाज़ से रीतिकाल देशभाषा (जनपदीय भाषाएँ) में होने वाले भक्ति-काव्य से अलग था। भक्ति की कविता मुख्यतः नायक-प्रधान

---

[7] रीतिकाल की सकारात्मक तस्वीर के लिए देखें, एलिसन बुश (2011); स्टुअर्ट आर. मेक्ग्रेगर (2003) : 912-957.

[8] नायिका की केंद्रीयता से सम्पन्न रीतिकालीन प्रभाव का ही परिणाम था कि इस अवधि में चित्रकला, नृत्य-संगीत और शिल्पकारी में नायिकाओं के विभिन्न रूप चित्रित हुए.

17abhay:Layout 1 2/5/2016 3:57 PM Page 585

थी। उसमें नायक के प्रधान किरदार की पृष्ठभूमि में स्त्री का चरित्र अपनी समाजप्रदत्त भूमिकाओं में या तो पूरी तरह से अ-यौनीकृत (डि-सेक्शुअलाइज़्ड) कर दिया गया था या उसकी कामना अध्यात्म और भक्ति में इस क़दर रँग दी गयी थी कि उसके ऐंद्रिक आयाम ख़ामोश होने के लिए अभिशप्त हो गये थे। रीतिकाल ने नायिका को सेक्शुअलाइज़्ड करके उसके व्यक्तित्व की ऐंद्रिकता को मुखर कर दिया। सेक्शुअलाइज़्ड करते ही किसी राजा की रानी, किसी पति की पत्नी, किसी घर की बहू, किसी देवर की भाभी और किसी पनघट की पनिहारिन में लाज़िमी तौर पर वैयक्तिक स्वायत्तता की सम्भावनाएँ जगीं। ऐसा करने के लिए रीतिकाल के काव्यशास्त्र में शृंगार रस को सर्वोच्च स्थान दिया गया। दरअसल, रीतिकाल ने नायक-नायिका युगल के समीकरण को बदल कर नायिका-नायक कर दिया। इसकी शास्त्रीय अभिव्यक्ति दो तरह से हुई। एक तरफ़ संस्कृत-साहित्य में उपलब्ध अष्ट-नायिकाभेद[9] को और अधिक विस्तृत और परिष्कृत करके नायिका-भेद की एक नयी मनोवैज्ञानिक और शरीरशास्त्रीय संरचना निरूपित की गयी जिसमें नायिकाओं की क़िस्में पंद्रह-सोलह या उससे भी ज़्यादा थीं। दूसरी तरफ़ चतुष्टांग नायक-भेद[10] को इस नायिका-भेद के मातहत करते हुए उसके केवल एक ही रूप को रेखांकित किया गया जो दरअसल नायक के चार स्थापित भेदों में शताब्दियों से कहीं छिपा हुआ था।

रामचंद्र शुक्ल ने *हिंदी साहित्य का इतिहास* में गद्य साहित्य के प्रसार पर विचार करते हुए महावीरप्रसाद द्विवेदी के लिए चमकदार सराहना वाला रवैया नहीं अपनाया है। उनके अनुसार 'द्विवेदीजी के लेखों को पढ़ कर ऐसा जान पड़ता है कि लेखक बहुत मोटी अक्ल वाले पाठकों के लिए लिख रहा है।' चूँकि उन्हें आचार्य द्विवेदी के लेखों में 'नये विचारों की उद्‌भावना वाले निबंध' बहुत कम मिले, इसलिए उन्होंने द्विवेदी-साहित्य को जिस श्रेणी में रखा वह 'व्यास शैली' थी, यानी विपक्षी को क़ायल करने में काम आने वाला विवादात्मक या पॉलिमिकल लेखन।[11] यह दूसरी बात है कि आचार्य द्विवेदी के योगदान को सीमित मान्यता देने के साथ-साथ उन्होंने रीतिकाल के संबंध में अघोषित रूप से उसी रवैये के विस्तार और पुष्टि में अपनी ऊर्जा खपाई जिसकी दाग़बेल 'नायिका-भेद' निबंध ने डाली थी। उन्होंने रीतिकालीन कविता के संस्थापक आचार्य और कवि केशवदास पर ज़बरदस्त आक्रमण किया। पहले तो उन्होंने केशव को भक्तिकाल की सगुण धारा की फुटकर रचनाओं के ख़ाने में डाला और फिर कहा :

> केशव ने अलंकारों पर *कविप्रिया* और रस पर *रसिकप्रिया* लिखी। इन ग्रंथों में केशव का अपना विवेचन कहीं नहीं दिखाई पड़ता। सारी सामग्री कई संस्कृत ग्रंथों से ली हुई मिलती है। नामों में कहीं-कहीं थोड़ा हेर-फेर मिलता है जिससे गड़बड़ी के सिवा और कुछ नहीं हुआ है। ... केशव को कवि-हृदय नहीं मिला था। उनमें वह सहृदयता और भावुकता न थी जो एक कवि में होनी चाहिए। वे संस्कृत साहित्य से सामग्री लेकर अपने पाण्डित्य और रचना-कौशल की धाक जमाना चाहते थे पर इस कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए भाषा पर जैसा अधिकार चाहिए वैसा उन्हें प्राप्त न था। ... प्रबंधकाव्य रचना के योग्य न तो केशव में अनुभूति ही थी, न शक्ति। ... *रामचंद्रिका* के लम्बे-चौड़े वर्णनों को देखने से स्पष्ट लक्षित होता है कि केशव की दृष्टि जीवन के गम्भीर और मार्मिक पक्ष पर न थी। उनका मन राजसी ठाट-बाट, तैयारी, नगरी की सजावट, चहल-पहल आदि के वर्णन में ही विशेषत: लगता है। ... केशव की रचना को सबसे अधिक विकृत और अरुचिकर करने वाली वस्तु है आलंकारिक चमत्कार की प्रवृत्ति जिसके कारण न तो भावों की प्रकृत व्यंजना

[9] भरत के नाट्यशास्त्र में नायिकाओं के आठ प्रकारों का उल्लेख है : वासकसज्जा नायिका, विरहोत्कंठिता नायिका, स्वाधीनभर्तृका नायिका, कलहांतरिता नायिका, खण्डिता नायिका, विप्रलब्धा नायिका, प्रोषितभर्तृका नायिका, अभिसारिका नायिका.

[10] नाट्यशास्त्र के मुताबिक़ चार तरह के नायक हैं : धीरोदात्त, धीरोद्धत्त, धीरप्रशांत और धीरललित.

[11] रामचंद्र शुक्ल (2007) : 348-349.

के लिए जगह बचती है, न सच्चे हृदयग्राही वस्तुवर्णन के लिए। पददोष, वाक्यदोष, आदि तो बिना प्रयास जगह-जगह मिल सकते हैं।[12]

यह साबित करने के बाद कि केशव में न तो आचार्यत्व था और न ही कवित्व, रामचंद्र शुक्ल ने अपना दूसरा हमला अगले अध्याय में रीति-कविता की श्रृंगार-प्रधानता, नायिका-भेद और नख-शिख वर्णन पर किया। उन्होंने कहा कि रीतिकालीन कवि इसी सब में लगे रहे और 'रीतिग्रंथों की इस परम्परा द्वारा साहित्य के विस्तृत विकास में कुछ बाधा भी पड़ी। प्रकृति की अनेकरूपता, जीवन की भिन्न-भिन्न चिंत्यबातों तथा जगत के नाना-रहस्यों की तरफ़ कवियों की दृष्टि नहीं जाने पायी।' इन उद्धरणों से एक बात स्पष्ट होती है कि महावीर प्रसाद द्विवेदी का लहज़ा नैतिकतापरक था, और रामचंद्र शुक्ल का काव्यशास्त्रीय। नतीजा दोनों का वही निकला जिसकी संस्तुति आचार्य द्विवेदी ने की थी। रीतिकाल पर बंदिश लग गयी। केशव और उनकी विरासत पर सोचना-विचारना स्थायी रूप से स्थगित हो गया। रीतिकालीन कविता को पतनशीलता, भोग-विलास और लोक-विरोधी मान कर साहित्यालोचना के क्षेत्र में एक ऐसा वनवास दे दिया गया जो आज तक ख़त्म नहीं हुआ है।

ऐसी बात नहीं कि साहित्येतिहास की इस द्विवेदी-शुक्ल विरासत पर पहले कभी सवालिया निशान नहीं लगाए गये, या आज नहीं लगाए जाते। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी रचना *हिंदी साहित्य की भूमिका* सम्भवत: आचार्य शुक्ल के जीवन के अंतिम दौर में ही लिखी होगी, क्योंकि 1940 में शुक्लजी का निधन हुआ और अगले साल इसका प्रकाशन। इस पुस्तक में आचार्य द्विवेदी ने हिंदी साहित्य के मध्यकाल को आध्यात्मिक और इहलौकिक की दो धाराओं में बाँट कर देखा। रीति-कविता को ऐहिकतापरक या 'सेकुलर' साहित्य की श्रेणी में रखने के बाद उन्होंने उसका संबंध प्राचीन भारतीय परम्परा और भक्ति-काव्य से जोड़ा। हजारी प्रसादजी ने नायिका-भेद और श्रृंगार की निंदा करने से परहेज़ करते हुए इस काव्य-प्रवृत्ति को भारतीय संस्कृति के व्यापक परिप्रेक्ष्य में स्थित करके उसे शास्त्र और लोक के अंतरगुम्फन की निरंतरता के रूप में चित्रित किया। द्विवेदी-शुक्ल विरासत से रैडिकल विच्छेद करते हुए उन्होंने दो और बेहद महत्त्वपूर्ण अंतर्दृष्टियाँ प्रदान कीं। पहली अंतर्दृष्टि थी लोकप्रचलित कहानियों के गीतरूपों का वीरगाथाओं और प्रेमगाथाओं के रूप में साहित्य का विषय बनना। इस सिलसिले में हजारी प्रसादजी ने तो यहाँ तक कहा कि तुलसीकृत *रामचरितमानस* की अतिशय लोकप्रियता ने एक 'बड़ा भारी अपकार भी किया' जिसके कारण बहुत से 'प्राकृत-जन-मन-गान' मूलक काव्य सदा के लिए लुप्त हो गये। दूसरी अंतर्दृष्टि थी वात्स्यायनकृत *कामसूत्र* की परम्परा के साथ रीतिकालीन कविता को जोड़ कर यह कहना कि नायिका-भेद का साहित्य केवल भरत या धनंजय के नायिका-भेद द्वारा ही चालित नहीं है, बल्कि *कामसूत्र* के आधार पर रचे गये मध्यकालीन ग्रंथों का उस पर काफ़ी प्रभाव है। हजारी प्रसादजी कोका पंडित द्वारा रचित मध्यकालीन रचना *कोकशास्त्र* या *रतिरहस्यम्* का ज़िक्र तो नहीं करते, पर उनका इशारा उसी ओर है।[13]

हजारी प्रसादजी द्वारा द्विवेदी-शुक्ल लीक से हट कर किये गये इस विचार को हिंदी की दुनिया एक कोने में रख कर भूल गयी। यह एक सायास विस्मृति थी। हुआ यह कि साहित्येतिहास से जुड़ी बहसों में हिंदी साहित्य की भूमिका का एक ऐसा सतर्क पाठ लगातार हस्तक्षेप करता रहा जिसे चतुराईपूर्वक कतरब्योंत करके तैयार किया गया था। इस पाठ के तहत यह चर्चा तो ख़ूब हुई कि हजारी प्रसादजी ने शुक्लजी की भक्तिकाल संबंधी समझ का किस तरह प्रतिवाद किया और किस तरह भक्ति-काव्य को मुसलमानी शासन से उपजी हुई हिंदू-निराशा का फलितार्थ मानने से इनकार कर दिया, लेकिन भूमिका में जिस रीतिकाल को इहलौकिक या सेकुलर काव्य का दर्जा दिया गया था

---

[12] रामचंद्र शुक्ल, वही : *140-46*.

[13] हजारी प्रसाद द्विवेदी (1981) : 123-35.

प्रेमी का निवेदन ठुकराती हुई कलहांतरिता नायिका
—अज्ञात चित्रकार / ब्रुकलिन संग्रहालय / 1790 से 1830 के बीच

उसे उस गर्त से उबारने में किसी ने दिलचस्पी नहीं दिखाई जिसमें द्विवेदी-शुक्ल विरासत ने इसे फेंक रखा था।[14]

रीतिकाल को इस गर्त से निकालने का काम हिंदीवालों ने भले ही न किया हो, अंग्रेज़ी में शोध करने वाले भाषाशास्त्री और साहित्यशास्त्री कालीचरण बहल ने सत्तर और अस्सी के दशक में किये दो अनुसंधानों के ज़रिये केशवदास और रीतिकालीन कविता के उन पक्षों पर विस्तृत रोशनी डाली जिनकी तरफ़ हजारी प्रसादजी ने अचूक इशारा किया था।[15] रीतिकाल-संहार और नायिका-संहार किस तरह हिंदी के लिए एक अनर्थकारी परिघटना है, इसका अंदाज़ा बहल के शोध पर एक नज़र डालने से लग जाता है। बहल ने सबसे पहले तो यह प्रतिपादित किया कि रीतिग्रंथ संस्कृत काव्यशास्त्र से सिर्फ़ उधार ही नहीं लेते, बल्कि उसमें नयी बातें भी जोड़ते हैं। इस प्रक्रिया में वे हिंदी-क्षेत्र की आवश्यकताओं के अनुरूप अलग तरह के काव्यशास्त्र की निर्मिति करते हैं जिससे संस्कृत-साहित्य प्रदत्त से भिन्न रस-सिद्धांत की निष्पत्ति होती है। इस विषय पर लम्बी चर्चा की जा सकती है कि संस्कृत काव्यशास्त्र को श्रेष्ठ मान कर किया गया विश्लेषण क्यों इस तरह के नवाचार की सराहना नहीं कर सकता। लेकिन, मैं अपने सीमित उद्देश्य के लिहाज़ से बहल की शोध के केवल उन पहलुओं का ज़िक्र करूँगा जिनका उल्लेख भूमिका में मिलता है, क्योंकि इस पहलू पर ज़ोर देने से मुझे स्त्री की व्यक्तिगत स्वायत्तता और सेक्शुअलिटी के आयामों के बारे में रीतिकालीन काव्य के उस रवैये को रेखांकित करने में मदद मिलेगी जो हजारी प्रसाद जी की सांस्कृतिक-ऐतिहासिक दृष्टि की ख़ास बात है।

बहल ने अपने विश्लेषण के केंद्र में साहित्य और लोक में प्रचलित प्रेमगाथाओं को रखा और उन्हें दो वर्गों में बाँट कर अंग्रेज़ी में एम-एफ़ (मेल-फ़ीमेल) और एफ़-एम (फ़ीमेल-मेल) का नाम दिया। पहली श्रेणी में शिव-पार्वती और ढोला-मारू जैसी प्रेमगाथाएँ रखी गयीं जिनमें पुरुष-पात्र पहले आता है और स्त्री-पात्र बाद में। दूसरी श्रेणी में मालविका-अग्निमित्र, राधा-कृष्ण, सीता-राम और हीर-राँझा को रखा गया जिनमें स्त्री-पात्र पहले और पुरुष-पात्र बाद में आता है। इसके बाद बहल ने इन दोनों श्रेणियों के संचालक तत्त्वों की तुलनात्मक तालिका बना कर दिखाया कि नामोल्लेख-समीकरण में किस तरह नायक और नायिका को मिलने वाली प्राथमिकता यूँ ही नहीं है। दरअसल,

---

[14] वैसे तो इस रवैये के उदाहरण अनगिनत हैं, पर दो प्रतिनिधि मिसालों के रूप में नामवर सिंह और नित्यानंद तिवारी का साहित्येतिहास संबंधी विमर्श देखा जा सकता है। देखें, नामवर सिंह (2008) और नित्यानंद तिवारी (2001) : 11-18.

[15] काली सी. बहल (1974) : 1-38; कालीचरण बहल (1984) : 27-40.

17abhay:Layout 1 2/5/2016 3:57 PM Page 588

साहित्य और समाज द्वारा किया जाने वाला यह नामकरण प्रेम और स्त्री की शख़्सियत के साथ उसके रिश्ते के परस्पर भिन्न आख्यानों की नुमाइंदगी करता है। मैं यहाँ पुरुष-प्रथम श्रेणी को लेखन की सुविधा के लिहाज़ से पुप्र और महिला-प्रथम श्रेणी को मप्र लिखूँगा। बहल ने ध्यान दिलाया कि पुप्र श्रेणी की प्रेमगाथाओं में दोनों पात्रों का प्रारब्ध पति-पत्नी के रूप में पहले से तय होता है, स्त्री को सक्रिय रूप से अपने पूर्व-निर्धारित पति को पाने की कोशिश करनी पड़ती है और तमाम प्रेमिका के लिए कई तरह की तकलीफ़ों और निराशाओं के वर्णन के बाद दोनों का पति-पत्नी के रूप में विवाह हो जाता है जिसके परिणाम संतान और परिवार के रूप में निकलते हैं। यह सारा घटनाक्रम समाज के बीच में परिचित माहौल में घटित होता है। इसके उलट मप्र श्रेणी की प्रेमगाथाओं में पुरुष एक ऐसी स्त्री के प्रेम में पड़ जाता है जो उसकी पत्नी होने के लिए पूर्व-निर्धारित नहीं है। प्रेमी को अपनी प्रेमिका पाने की कोशिश करनी पड़ती है और ज़रूरी नहीं कि प्रेमिका को पता भी हो कि कोई उसे पाने का प्रयास कर रहा है। वे आगे चल कर पति-पत्नी बन भी सकते हैं और नहीं भी। दरअसल, इस श्रेणी के लिए विवाह ज़रूरी न हो कर प्रेम-मिलन ही लक्ष्य है। इस श्रेणी का पूरा घटनाक्रम समाज के बीच परिचित वातावरण में घटित न हो कर कहीं और घटित होता है।

शुक्लजी ने इन श्रृंगारिक आयामों को भक्ति के पवित्रतावादी विमर्श में फ़िट करने के लिए ज़बरदस्त बौद्धिक कारीगरी की। पहले उन्होंने 'श्रृंगार की शिष्ट मर्यादा के भीतर बहुत ही व्यंजक वर्णन' की शर्त गढ़ी और इस हद तक गये कि सम्भोग-श्रृंगार की श्रेणी का पवित्रीकृत पुनःसंस्कार संयोग-श्रृंगार में कर दिया।

बहल यह भी ध्यान दिलाते हैं पुप्र श्रेणी में नायिका की क़िस्म एक ही है। यानी वहाँ नायिका-भेद सम्भव ही नहीं है। जबकि मप्र श्रेणी में नायिकाएँ मुख्यत: तीन प्रकार की हैं : स्वकीय, परकीय और सामान्य।[16] इस श्रेणी में राधा एक परकीय नायिका है, और सीता एक स्वकीय नायिका। नायिका अगर स्वकीय है तो उसे माँ के समान अ-यौनीकृत शख़्सियत दी गयी है, जबकि परकीय नायिका का व्यक्तित्व बेहद सेक्शुअलाइज़्ड है। बहल का यह दावा ध्यान देने योग्य है कि पुप्र श्रेणी संस्कृत काव्यशास्त्र पर छायी हुई है और इसके विपरीत भक्तिकालीन प्रेमगाथाओं के गर्भ से जन्मी रसिक शैली की रीतिकालीन प्रेम-श्रृंगार कविता मुख्यत: मप्र श्रेणी पर अवलम्बित है और इसीलिए उसे नायिका-भेद की आवश्यकता है। बहल के मुताबिक़ जिस श्रृंगार रस की महिमा केशवदास और रीतिकाल के अन्य आचार्य-कवि गाते हैं, वह कृष्णभक्त रसिक कविता को भी सामने लाता है और रामभक्त रसिक कविता को भी। केशवदास ने *रसिकप्रिया* में दोनों तरह के काव्य की सिलसिलेवार व्याख्या और सैद्धांतिकता प्रस्तुत करते हुए दिखाया है कि किस तरह ये दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं

[16] नायिका-भेद यहीं ख़त्म नहीं होता. स्वकीय नायिका की तीन क़िस्में बताई गयी हैं : मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा. मुग्धा को तीन, प्रौढ़ा और मध्या को चार-चार और क़िस्मों में वर्गीकृत किया गया है. परकीय की केवल दो क़िस्मों का उल्लेख है : युधा यानी विवाहित और अनुधा यानी अविवाहित. बहल के मुताबिक़ ये श्रेणियाँ शरीर-रचना, भावजगत और देह-भाषा को ध्यान में रख कर और नायक के साथ नायिका के संबंध को ध्यान में रख कर निर्धारित की गयी हैं. केशवदास ने नायक-भेद भी किया है. लेकिन वे संस्कृत साहित्य में वर्णित धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशांत नायकों के चार प्रकारों का समाहार एक ऐसे आदर्श नायक में करते हैं जिसके लिए रति-प्रवीण होना अनिवार्य है.

जिनमें एक दूसरे पर और दूसरा एक पर प्राथमिकता प्राप्त करता रहता है।

हिंदी में साहित्येतिहास के विद्वानों ने यह देखने-समझने की कोशिश कभी नहीं की कि भक्तिकाल में बनी भक्तिरस, प्रेमरस और शृंगाररस की अनूठी त्रिवेणी के केंद्र में ईश्वर या आराध्य का पुरुष रूप ही क्यों था अर्थात् लोकजागरण के श्रेय से सम्पन्न सांस्कृतिक उत्पादन की यह अवधि मुख्यत: नायकप्रधान क्यों थी और इस दौरान स्त्री को कौन सी जगह प्रदान की गयी थी? चूँकि इन विद्वानों की आँखें जेण्डर-निरपेक्षता से ग्रस्त थीं, इसलिए उन्होंने यह भी जानने की कोशिश नहीं की कि इसी त्रिवेणी के गर्भ से निकले रीतिकाल के केंद्र में नायिका कैसे आ गयी? हजारी प्रसाद द्विवेदी के इशारों के बावजूद वे ख़ुद को यह देखने के लिए कभी नहीं मना पाए कि आध्यात्मिक को इहलौकिक ने कैसे प्रतिस्थापित किया? उन्होंने इन प्रश्नों पर कभी गहराई से विचार नहीं किया कि यह बौद्धिक और साहित्यिक इंजीनियरिंग कैसे हुई, इसका विन्यास क्या था, और इसकी सामाजिक पृष्ठभूमि क्या थी?

II
स्त्री-द्वेष की संरचनाएँ

और कुछ न सही, अगर हिंदी में साहित्येतिहास के विद्वान चाहते तो रीतिकाल में प्रेम, शृंगार और कामना की भारतीय निर्मितियाँ रेखांकित करके सेक्शुअलिटी के भारतीय रूपों की शिनाख़्त कर सकते थे। अगर वे ऐसा करते तो न केवल सेक्शुअलिटी के विमर्श में यह उनका योगदान होता, बल्कि वे भारत की सांस्कृतिक ज़मीन पर नारीवाद की सम्भावित पदचाप भी सुन सकते थे। लेकिन इस सब में उनकी कोई रुचि नहीं थी, क्योंकि वे स्त्री के प्रश्न को दो भागों में बाँट कर देखने की विमर्शी रणनीति के हामी थे। एक तरफ़ तो उनकी निगाह में स्त्री का कल्याणकारी रूप था जिसके तहत माँ, पुत्री और पतिव्रता के रूप आते थे; दूसरी तरफ़ स्त्री के 'ग़लत' क़िस्म के रूप थे जिसके तहत स्त्री माया थी, रमणी थी, शरीर थी, जो साधक को साधना-मार्ग से विचलित कर सकती थी। स्त्री का यह द्विभाजन भारतेंदु हरिश्चंद्र से लेकर विश्वनाथ त्रिपाठी तक अलग-अलग संदर्भों में लगातार मौजूद है,[17] और इसकी संकेंद्रित परिणति भक्तिकाल संबंधी विमर्श में मिलती है जिसमें ग़ैर-मार्क्सवादी और मार्क्सवादी, दोनों तरह के विमर्शकार भागीदारी करते हैं। दरअसल, हिंदी के भक्तिकाल संबंधी विमर्श में ही वह दण्डात्मक संरचना छिपी हुई है जिससे रीतिकाल की जम कर पिटाई की गयी। नगेंद्र के शब्दों में 'द्विवेदी युग ने इसे नीतिभ्रष्ट कह कर तिरस्कृत किया। छायावाद के प्रतिनिधि कवि-लेखक इस कविता को अति-ऐंद्रिक और स्थूल कह कर हेय समझते रहे और आज का प्रगतिशील समीक्षक इसको सामंतवादी अभिव्यक्ति मान कर प्रतिक्रियावादी कहता है।'[18] इस दण्डात्मक संरचना के दो पहलू हैं : पहला, भक्तिपूरित शृंगार को ही शृंगार रस की एकमात्र श्रेयस्कर अभिव्यक्ति मानना, दूसरा, भक्तिकालीन कविता के स्त्री-द्वेषी पहलुओं की जम कर लीपापोती।

रामचंद्र शुक्ल के इतिहास में रीतिकाल वाले अध्याय से पहले भक्तिकाल आता है। इस कालक्रमानुसार संरचना के कारण उनका इतिहास इस प्रचलित छवि का वाहक बन गया, जब भक्तिकाल समाप्त हुआ तो रीतिकाल की शुरुआत हुई। लेकिन वास्तव में ये दोनों अवधियाँ परस्परव्यापी थीं और रीतिकाल के सबसे पहले आचार्य-कवि केशवदास तुलसीदास के समकालीन थे। इसलिए शुक्लजी

---

[17] भारतेंदु हरिश्चंद्र स्त्री-शिक्षा के पक्ष में थे, लेकिन ऐसी शिक्षा के जो उन्हें पति-धर्म के पालन की तरफ़ ले जाए, वे अपना देश और कुलधर्म सीखें और लड़कों को सहज शिक्षा दें. इस तरह की स्त्री-शिक्षा भारतेंदु के लिए भारतवर्ष की उन्नति की शर्त थी. दूसरी तरफ़ मीरा की कविता पर लिखते हुए विश्वनाथ त्रिपाठी स्त्री की देह और उसकी सामाजिक भूमिका को अलग-अलग कर देते हैं.

[18] डॉ. नगेंद्र (1949).

ने चतुराई यह की कि केशव को भक्तिकाल के फुटकर कवियों की श्रेणी में डाल दिया। भक्तिकाल के साफ़-सुथरे विमर्श में सबसे बड़ी बाधा थी शृंगार रस। केशवदास की *रसिकप्रिया* पर विमर्श करते हुए कालीचरण बहल ने ध्यान दिलाया है कि भारतीय परम्परा में प्रेम की अवधारणा तीन तरह से संसाधित होती है। कामशास्त्रीय परम्परा में प्रेम नैसर्गिक ऐंद्रिकता की नुमाइंदगी करता हुआ काम के रूप में व्यक्त होता है, काव्यशास्त्रीय परम्परा में वह शृंगार रस के रूप में सौंदर्यमूलक अनुभव बन जाता है और भक्तिशास्त्रीय परम्परा में वह प्रेमाभक्ति का रूप ग्रहण कर लेता है। बहल की मान्यता है कि ये तीनों पहलू एक साथ मौजूद रहते हैं। इसकी तसदीक़ भक्ति-साहित्य में आसानी से हो सकती है। सूरदास केवल वात्सल्य रस के ही कवि नहीं हैं। *हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास* लिखने वाले बच्चन सिंह बताते हैं कि 'सूरसागर में खण्डिता, अभिसारिका, वासकसज्जा, मध्यधीरा, क्रिया-विदग्धा आदि के रमणीय चित्र नायिका-भेद की कसौटी पर खरे उतरते हैं। हो सकता है कि इसका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव रीतिकालीन नायिका-भेद पर पड़ा हो।' शृंगार के पहलू तुलसी की *गीतावली* में भी हैं। रहीम के पास भी 'बरवै-नायिकाभेद' है।

शुक्लजी ने इन शृंगारिक आयामों को भक्ति के पवित्रतावादी विमर्श में फ़िट करने के लिए ज़बरदस्त बौद्धिक कारीगरी की। पहले उन्होंने 'शृंगार की शिष्ट मर्यादा के भीतर बहुत ही व्यंजक वर्णन' की शर्त गढ़ी[19] और इस हद तक गये कि संस्कृत-काव्यशास्त्र में मौजूद सम्भोग-शृंगार की श्रेणी का पवित्रीकृत पुन:संस्कार संयोग-शृंगार में कर दिया। सम्भोग को संयोग में बदलने के साथ ही उन्होंने घोषणा की कि 'जो भक्तिमार्ग श्रद्धा के अवयव को छोड़ कर केवल प्रेम को ही लेकर चलेगा, धर्म से उसका लगाव न रह जाएगा। वह एक प्रकार से अधूरा रहेगा। शृंगारोपासना, माधुर्यभाव आदि की ओर उसका झुकाव होता जाएगा और ... परिणाम यह होगा कि भक्ति के बहाने विलासिता और इंद्रियासक्ति की स्थापना होगी।' इसी सिलसिले में उन्होंने अपने ही ज़माने यानी बीस के दशक के एक रामभक्त सम्प्रदाय की उस प्रवृत्ति पर हमला बोला जो 'रामभक्ति को भी शृंगारी भावनाओं में लपेट कर विकृत करने में जुट' गया था। 'रामभक्ति मार्ग के भीतर भी शृंगारी भावना का अनर्गल प्रवेश' के पातक का ज़िम्मेदार उन्होंने जानकीघाट (अयोध्या) के निवासी और *रामचरितमानस* के प्रसिद्ध टीकाकार रामचरणदास को ठहराया जिन्होंने सीता-राम के बीच पति-पत्नी भाव की उपासना का संदेश देते हुए अपनी भक्तिशाखा का नाम स्वसुखी शाखा रखा था। शुक्लजी की नाराज़गी और भी आगे बढ़ कर चिरान, छपरा के जीवाराम तक पहुँची जिन्होंने पति-पत्नी भावना का नामकरण सखीभाव करके तत्सुखी शाखा बना ली। इसे 'घोर पतन' क़रार देते हुए शुक्लजी ने राम की तिरछी चितवन और बाँकी अदा को उद्धरण चिह्नों में बंद करके संदेश दिया कि वे इस 'रसिक शाखा' का थोड़ा सा विवरण सावधान करने के लिए दे रहे हैं।[20] इसमें कोई शक नहीं कि शुक्लजी बड़े चौकन्ने थे। उनका यह सोच सही था कि रीतिकालीन शृंगार धर्म से कोई लगाव न रखने वाला था। उसने प्रेम को श्रद्धा की जकड़ से छुड़ा लिया था। सूरदास के वात्सल्य रस में बाल-कृष्ण को 'लला' की तरह चित्रित किया गया था, वही लला रीतिकाल में रात भर 'केलि' करने के बाद भी दिन में 'घात' लगाने वाले लला में बदल गया था। जिस राधा-कृष्ण युगल से दैवी प्रेम की व्यंजना निकाली जा रही थी, वह रीतिकाल में भक्ति और अध्यात्म से पूरी तरह मुक्त यौनिक प्रेम में लिप्त नर-नारी युगल बन गया था।[21]

रामविलास शर्मा ने शुक्लजी द्वारा साहित्येतिहास में आदिकाल और मध्यकाल जैसे विभाजनों

[19] रामचंद्र शुक्ल, वही : 94.
[20] रामचंद्र शुक्ल, वही : 101-102.
[21] कालीचरण बहल (1984), वही.

17abhay:Layout 1 2/5/2016 3:57 PM Page 591

प्रेमी के हाथों से महावर : स्वाधीनभर्तृका नायिका —कालीघाट चित्रशैली

को अनुचित ठहराते हुए साहित्य के इतिहास का विभाजन सामाजिक दृष्टि के आधार पर करने की वकालत की, लेकिन शृंगार रस के सवाल पर वे शुक्लजी और द्विवेदीजी के मार्क्सवादी संस्करण ही साबित हुए। उन्होंने भी वही राग अलापा, 'सूर की राधा का प्रेम एक तरफ़— सारा रीतिकाव्य दूसरी तरफ़। प्रेम की अभिव्यंजना में रीतिकाव्य का मनोविज्ञान सूर की उदात्त भावव्यंजना से कोसों पीछे है। इसलिए मनोविज्ञान की दुहाई देने से रीतिकाव्य को नया सैद्धांतिक आधार नहीं प्रदान किया जा सकता।'[22] रामविलास शर्मा के समर्थक-सम्प्रदाय ने कभी अपने-आप से यह सवाल नहीं पूछा कि जिस व्यापारिक पूँजी के आधार पर भक्तिप्रदत्त लोक-जागरण को उन्होंने स्थापित किया था, वह सत्रहवीं और अट्ठारहवीं सदी में अचानक ग़ायब कैसे हो गयी? जिस व्यापारिक पूँजी की खोज रामविलासजी ने बारहवीं सदी में ही कर ली थी, वह अपना पाँच सौ साल लम्बा वजूद कैसे खो बैठी? रीतिकाल-संहार के रामविलासी प्रकरण में कहीं भी व्यापारिक पूँजी का ज़िक्र नहीं मिलता। सुधीश पचौरी ने ठीक ही इस ओर ध्यान दिलाया है कि हिंदी के विजेता मार्क्सवाद के संस्थापक रामविलासजी अपने जीवन के अंत में उस सांस्कृतिक-रणनीति पर चलते हुए दिखाई देते हैं जिसे अंग्रेज़ी में 'इरेज़र' कहा जाता है। वे फ़ैसला करते हैं कि बहुत हो गया, वे रीतिकाल को विलुप्त कर देंगे। इसीलिए उनकी दो अंतिम रचनाओं में से एक *भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश* में दो सौ साल लम्बे रीतिकाल का एक भी उल्लेख नहीं मिलता, जैसे कि यह काल कभी घटित ही न हुआ हो।

हिंदी का साहित्य-जगत मुक्तिबोध, रामविलास शर्मा और नामवर सिंह के बीच मतभेदों से अच्छी तरह वाक़िफ़ है। लेकिन रीतिकाल-संहार करने के मामले में इन तीनों के बीच पर्याप्त मतैक्य के दर्शन किये जा सकते हैं। तीनों का विमर्श अपने-अपने रास्ते भक्तिकाल से जुड़ते हुए रामचंद्र शुक्ल के काल-विभाजन की पुष्टि करता है। नामवरजी पहले तो मुक्तिबोध के निबंध 'मध्ययुगीन भक्ति आंदोलन का एक पहलू' द्वारा प्रवर्तित निर्गुण-सगुण द्विभाजन से सहमति व्यक्त करते हैं। इस द्विभाजन में निचली जातियों से संबंधित निर्गुण भक्ति के क्रांतिकारी स्वरूप और ऊँची जाति से संबंध होने के कारण सगुण भक्ति द्वारा भक्ति आंदोलन के क्रांतिकारी दाँत उखड़ जाने की स्थापना की गयी

---

[22] रामविलास शर्मा, वही : 99.

17abhay:Layout 1 2/5/2016 3:57 PM Page 592

है। इसके बाद वे मुक्तिबोध को उद्धृत करते हैं : 'क्या यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य नहीं है कि रामभक्ति शाखा के अंतर्गत एक भी प्रभावशावली और महत्त्वपूर्ण कवि निम्नजातीय शूद्र वर्गों से नहीं आया। क्या यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य नहीं है कि कृष्णभक्ति शाखा के अंतर्गत रसख़ान और रहीम जैसे हृदयवान मुसलमान कवि बराबर रहे आये, किंतु रामभक्ति शाखा के अंतर्गत एक भी मुसलमान और एक भी शूद्र कवि, प्रभावशाली और महत्त्वपूर्ण रूप से अपनी काव्यात्मक प्रतिभा विशद नहीं कर सका? ... क्या कारण है कि तुलसीदास भक्ति आंदोलन के प्रधान (हिंदी क्षेत्र में) कवि थे?' मुक्तिबोध का विमर्श नामवरजी को इस निष्कर्ष की ओर ले जाता है कि अगर भक्ति आंदोलन पर उच्चजातीय वर्गों का प्रभुत्व न होता तो भक्ति आंदोलन में शिथिलता न आती जो इसकी समाप्ति के लिए ज़िम्मेदार है। और, भक्ति आंदोलन का ख़ात्मा न होता तो रीतिकाव्य के लिए गुंजाइश पैदा ही नहीं होती। मुक्तिबोध जिस नायिका-भेद से नफ़रत करते थे, वह अपने आपत्तिजनक रूपों में सामने न आता। नामवर सिंह एक झटके में अपने गुरु के रीतिकालीन संबंधी सकारात्मक विमर्श को यह कह कर नकारात्मक विमर्श में बदल देते हैं, 'इस विवेचन से भक्तिकाल के बाद रीतिकाव्य के उदय का कारण भी स्पष्ट हो जाता है। यदि आरम्भ के शास्त्र-निरपेक्ष निर्गुण काव्य की शास्त्र-निरपेक्ष सगुण परिणति की ओर ध्यान दें तो शास्त्रीयतावाद के पुनरुत्थान के रूप में रीतिकाव्य के प्रसार की संगति भी लग जाती है।'[23] मुक्तिबोध और नामवर सिंह जिन रीतिकाल-विरोधी निष्कर्षों तक सगुण बनाम निर्गुण के फ़ारमूले के ज़रिये पहुँचे, उन्हीं निष्कर्षों तक रामविलास शर्मा भक्तिकाल में प्रेममार्ग के ज़रिये सगुण और निर्गुण की एकता दिखा कर पहुँचे थे।

हिंदी के विजेता मार्क्सवाद के संस्थापक रामविलासजी अपने जीवन के अंत में उस सांस्कृतिक-रणनीति पर चलते हुए दिखाई देते हैं जिसे अंग्रेज़ी में 'इरेज़र' कहा जाता है। उनकी दो अंतिम रचनाओं में से एक *भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश* में दो सौ साल लम्बे रीतिकाल का एक भी उल्लेख नहीं मिलता, जैसे कि यह काल कभी घटित ही न हुआ हो।

जो भक्तिकाल शुक्लजी को 'शृंगार की शिष्ट मर्यादा' का दर्शन कराता था और जिसका स्खलन मुक्तिबोध और नामवर सिंह का हृदय विदीर्ण किये दे रहा है, उसमें स्त्री की हैसियत की ठोस जानकारी के बिना इस विमर्श के समाजशास्त्रीय आयाम स्पष्ट नहीं हो सकते। हाल ही में प्रकाशित रवींद्र कुमार पाठक के अनुसंधान 'भक्ति-साहित्य की मूल्य-संरचना और स्त्री' में उत्साहपूर्वक ऐसे अनगिनत साक्ष्य जुटाए गये हैं जो सगुण और निर्गुण, दोनों तरह के संत कवियों के नारी-द्वेष के प्रमाण की तरह सामने आते हैं। पाठक के शोध का एक मानीख़ेज़ टुकड़ा द्रष्टव्य है : 'भक्तिकालीन आम दृष्टि में नारी साढ़े तीन हाथ के शरीर से अधिक नहीं है, जिससे प्रसूत होने के बावजूद भयभीत है पूरी (पुरुष) भक्त/संत-मण्डली कि वह कहीं हमारे भीतर कामोन्माद न जगा दे, बड़े जतन से ओढ़ी गयी ब्रह्मचर्य की चादर या बड़ी मेहनत से बनाए गये ब्रह्मचारी के इमेज को कहीं वह तार-तार न कर दे! इसी से उस पर देवी, माँ या संयमित गृहिणी के लेबल लगा कर हानि-रहित बना लो या उसे कामिनी (कामुकता भरी) कह कर परे हटा दो।' सगुण तुलसीदास में अगर नारी ढोल, गँवार और शूद्रों के साथ

---

[23] नामवर सिंह (1982/2011) : 100-102.

17abhay:Layout 1 2/5/2016 3:57 PM Page 593

सकल ताड़ना की अधिकारी है और 'सकल कपट अघ अवगुन खानी' है, तो निर्गुण कबीर की निगाह में नारी नरक का कुण्ड है। सूरदास भी भला क्यों पीछे रहें। वे बताते हैं कि 'नारी नागिनि एक सुभाव'। कबीर, तुलसी, सुंदरदास, दादू, सूरदास और नानक यानी तक़रीबन हर क़िस्म का संत कवि स्त्री-जीवन के लिए एक ही रूप श्रेयस्कर मानता है पतिव्रत धर्म। इन संत कवियों में सती प्रथा के प्रति बड़ा आदर है। वे सती और साधू को एक ही पायदान पर रखते हैं। कबीर तो विशेष रूप से सती-महिमा की गिरफ़्त में हैं। पाठक ने सिलसिलेवार यह भी दिखाया है कि भक्तिकाल के इस स्त्री-द्वेष पर हिंदी की स्थापित आलोचक-परम्परा ने किस क़दर लीपापोती की है। उन्होंने एक के बाद एक रामचंद्र शुक्ल, रामकुमार वर्मा, विश्वनाथ त्रिपाठी, बलदेव प्रसाद मिश्र, रामविलास शर्मा, देवेंद्रनाथ शर्मा, श्रीनारायण सिंह और ज्ञानवती त्रिवेदी के कथनों का उल्लेख किया है जिनमें संत-कवियों को नारी-निंदा के आरोप से बरी करने में ख़ासी कुशलता दिखाई गयी है।[24]

हिंदी आलोचना का यह स्त्री-द्वेषी संसार रीतिकाल के साथ अपना तालमेल किसी क़ीमत पर नहीं बैठा सकता था। रीतिकाल की नायिका उसे डरा कर दु:स्वप्नों की शिकार बनाने में समर्थ थी। इसलिए जैसे ही आधुनिकीकरण के फ़लक पर एक ऐसी स्त्री का जन्म हुआ जिसकी सामाजिक भूमिका पत्नी, पुत्री और अपने पुत्र की शिक्षिका से अधिक विस्तारित थी। वह उस सामाजिक भूमिका और अपनी देह को दो अलग-अलग ख़ानों में बाँटने के लिए तैयार नहीं थी। वह एक समूची नारी की तरह ख़ुद को पेश करना चाहती थी। रीतिकालीन नायिका और इस आधुनिकीकृत नायिका के बीच सबसे बड़ी समानता यही थी कि उन्होंने बहू, पत्नी, गृहिणी, माँ जैसी भूमिकाओं के साथ अपने सेक्शुअल पक्षों को जोड़ने का आग्रह किया था। अस्सी के दशक में जैसे ही स्त्री-लेखन ने वर्जीनिया वुल्फ़ के शब्दों में स्त्रीवादी होने से न बच पाने अपने सर्वोत्तम रूप में स्त्रीवादी होने की सिफ़्त दिखानी शुरू की, वह अपनी महज़ मौजूदगी से आगे जा कर एक साहित्यिक परिघटना की तरह परिभाषित होने लगा। इसी क्षण से आलोचकों की गाज उस पर गिरनी शुरू हो गयी। 1984 में एक वरिष्ठ आलोचक ने *सारिका* में लिखा कि स्त्रियों की रचनाएँ इसलिए छपती हैं कि वे स्त्री हैं। यह वही दौर था जब कृष्णा सोबती, मन्नू भण्डारी और उषा प्रियंवदा द्वारा तैयार की गयी भाव-भूमि पर खड़े हो कर नयी लेखिकाएँ उस दुनिया का संधान कर रही थीं जो पहले उनके लिए वर्जित मानी जाती थी। यही वह समय था जब मृदुला गर्ग ने अपनी रचनाओं में विवाहेतर प्रेम संबंधों की आत्यंतिक जाँच-पड़ताल शुरू करके पुरुषों के आलोचक-संसार में बेचैनियाँ पैदा कर दी थीं। रामचंद्र शुक्ल से आगे का इतिहास लिखने का दावा करने वाले बच्चन सिंह के लिए तो मृदुला गर्ग का पाप वही था जो रीतिकालीन कवियों ने किया था। *उसके हिस्से की धूप* की नायिका मनीषा के बारे में उनकी राय है कि वह 'विवाह इसलिए करती है कि मुक्ति या स्वातंत्र्य का स्वाद चख सके। विवाह नहीं होगा तो वह तोड़ेगी क्या?' बच्चन सिंह गर्ग की रचना *मैं और मैं* में 'जार भाव पूरी ऊँचाई पर देखते हैं', ठीक उसी तरह कुछ जैसे आगे चल कर दलित बुद्धिजीवी धर्मवीर दलित स्त्रियों द्वारा की गयी आज़ादी की माँग में जार भाव के दर्शन करते हैं। और, *चित्तकोबरा* तो बच्चन सिंह के लिए बिल्कुल रीतिकालीन, कामशास्त्रीय और पोर्नोग्राफ़िक रचना है।[25] नयी सदी तक पहुँचते-पहुँचते स्त्री-लेखन के प्रति

---

[24] रवींद्र कुमार पाठक (2013) : 13-110. यह अलग बात है कि पाठक का यह शोध रीतिकालीन नायिका के प्रति वही दृष्टि रखता है जो भक्तिकाल के प्रशंसक विद्वानों ने दिखाई है. पाठक संत-कवियों द्वारा स्त्री को डि-सेक्शुअलाइज़्ड करने का विरोध तो करते हैं, पर रीतिकालीन नायिका में स्वतंत्र और स्वायत्त सेक्शुअल हस्ती देखने को तैयार नहीं हैं. उनकी निगाह में रीतिकाल में जिस भोगवाद की स्थापना हुई उसकी नींव भक्तिकाल में रखी गयी थी. इन सीमाओं के बावजूद भक्तिकाल की स्त्री-द्वेषी प्रकृति अनावृत्त करने के लिए उनका अनुसंधान उपयोगी है.

[25] बच्चन सिंह (1996/2013) : 493-498.

आलोचकों की बेचैनियाँ अपने चरम पर पहुँच चुकी थीं। उनकी शब्दावली और वाक्य-रचना उत्तरोत्तर आक्रामक होती जा रही थी। कृष्णा सोबती से मृदुला गर्ग तक 'कहीं-कहीं' अश्लीलता देखने वाले नामवर सिंह ने कहा कि 'मुक्त स्त्री के रूप में उसकी एक छद्म छवि प्रस्तुत की जा रही है'। इससे पहले उपेंद्रनाथ अश्क ने तो स्त्री-लेखन के लिए श्रेष्ठता की सारी सम्भावनाएँ बंद घोषित कर दी थीं। उनका कहना था कि स्त्री दोनों तरफ़ से कमतर रचनाशीलता के लिए अभिशप्त है— पहले तो वह घर-परिवार तोड़ने से परहेज़ करती है इसलिए कला के प्रति उसमें वह समर्पण नहीं आ पाता जो माता-पिता, घर-द्वार, बीवियाँ छोड़ कर टूटन झेलने वाले लेखकों में होता है। दूसरे, अगर वह बंधन-मुक्त भी हो जाती है तो 'कोई बंधन न होने की कुण्ठा ही उन्हें विवश कर देती है और वे केवल सृजन-सुख में संतोष नहीं पा सकतीं या उसके माध्यम से अपनी तमाम कुण्ठाओं को नहीं भुला सकतीं।' श्रीलाल शुक्ल ने स्त्री-विमर्श पर दिशाहीन होने का आरोप लगाते हुए स्त्री-मुक्ति की अवधारणा पर तदर्थवाद का शिकार होने का आरोप लगाया। उनके मुताबिक़ नारी-मुक्ति को लेकर लिखा गया अधिकांश कथा-साहित्य व्यावसायिक क्षेत्र में पुरुष से प्रतिस्पर्धा और उसकी ईर्ष्या का परिणाम है। विश्वनाथ त्रिपाठी ने स्त्री-विमर्श के बारे में भविष्यवाणी की : 'यह कुछ दिनों के लिए है। नया-नया जोश है। अधिक दिन नहीं चलेगा।'[26]

III
हिंदी साहित्य के इतिहास-लेखन की समस्याएँ

सन् 2008 में रीतिकाल पर व्याख्यान देते हुए नामवर सिंह ने अपने उक्त विचारों के विपरीत दृष्टिकोण की बानगी पेश की। उन्होंने कहा कि 'रीतिकाव्य के विरुद्ध दो प्रकार की चीज़ें खड़ी होती हैं। एक तो जो पोंगापंथी लोग हैं, जिनको संस्कृत कविता में अश्लीलता नहीं दिखाई पड़ती, रीतिकाव्य का विरोध अश्लीलता, नैतिकता जैसे सवालों के आधार पर करते हैं। दुख की बात तो यह है कि अपने आपको प्रगतिशील कहने समझने वाले लोग भी ऐसे सिद्धांत के आधार पर उन्हीं की पाँत में जा खड़े होते हैं। यानी, शेख-बरहमन दोनों एक। इसलिए रीतिकाव्य दोनों ओर मारा गया। इस पृष्ठभूमि में रीतिकाव्य पर नये सिरे से पुनर्विचार किया जाना चाहिए।'[27] रीतिकाव्य की प्रशंसा से भरे हुए इस व्याख्यान में नामवर सिंह ने रीतिकाल को पतन का काव्य बताने की ज़िम्मेदारी जॉर्ज ग्रियर्सन और स्टुअर्ट मेक्ग्रेगर पर डाली। ग्रियर्सन पर इसलिए कि उन्होंने रीति-साहित्य को ऑगस्टन एज यानी शेक्सपियर और एलिजाबेथन युग के बाद आयी पतन की अवधि क़रार दिया था; और मेक्ग्रेगर को इसलिए कि उन्होंने रीति साहित्य को कोर्ट पोयट्री या राज्याश्रय में विकसित हुए साहित्य के रूप में पेश किया। बहरहाल, ग्रियर्सन और मेक्ग्रेगर ने जो भी किया हो, अगर हम इस व्याख्यान को 1982 में प्रकाशित *दूसरी परम्परा की खोज* में दर्ज इस वक्तव्य के साथ पढ़ें तो रीतिकाल के त्याज्य बनने-बनाने की कहानी कुछ और दिखाई पड़ती है। ऊपर हम देख चुके हैं कि किस प्रकार नामवर सिंह ने शास्त्रीयतावाद के पुनरुत्थान को नकारात्मक बता कर उसका परिणाम रीतिकाल के जन्म के साथ नत्थी कर दिया था। उन्होंने यह भी कहा था : 'यह भी एक विरोधाभास ही है कि शास्त्र-सम्बलित हो कर साहित्य जिस मात्रा में सामाजिक दृष्टि से लोक-विमुख और लोक-विरोधी विचारों की ओर विचलित होता चला गया, काव्य-भाषा और काव्य-कला की दृष्टि से उसी मात्रा में समृद्धतर होता गया।'[28] क्या छब्बीस साल पहले रीतिकाल को लोक-विमुख और लोक-विरोधी मानना उस द्विवेदी-

---

[26] *वसुधा* (विशेषांक, स्त्री : मुक्ति का सपना) : 516-521.
[27] नामवर सिंह (2012) : 43.
[28] नामवर सिंह (1982), वही : 102.

17abhay:Layout 1 2/5/2016 3:57 PM Page 595

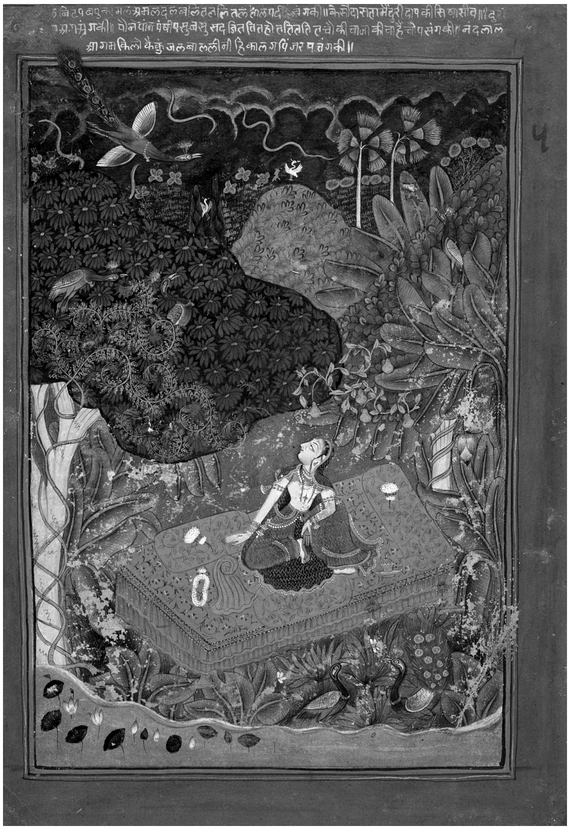

विरहोत्कंठिता नायिका

शुक्ल परम्परा पर ही अपनी मुहर लगाना नहीं था जिसके कारण नामवर सिंह के ही शब्दों में 'आज हिंदी अध्ययन-अध्यापन और आलोचना में रीतिकाव्य पर बातचीत धीरे-धीरे बंद सी होती जा रही है।' उन्हें 'लग रहा है कि रीतिकाल कहीं संग्रहालय की वस्तु न बन कर रह जाए। शिक्षण संस्थानों में साहित्य को पढ़ाने की जो एक ऐतिहासिक समझ विकसित हो गयी है, वह भी इसके लिए ज़िम्मेदार है।'[29] हो सकता है कि यह व्याख्यान आत्म-प्रक्षालन हो, पर रीतिकाल पर इस पुनर्विचार को 'देर आयद-दुरुस्त आयद' की श्रेणी में रखा जा सकता है, हालाँकि नामवरजी ही बता रहे हैं कि देर कुछ ज़्यादा ही हो चुकी है।

जो भी हो, रीतिकाल पर पुनर्विचार होने की आम ज़रूरत पर ज़ोर देने के साथ-साथ नामवरजी के इस विमर्श से साहित्येतिहास दोबारा लिखने का एक ठोस प्रस्ताव भी निकाला जा सकता है। एक जगह वे कहते हैं कि रीतिकाल में न केवल आधुनिक भारतीय भाषाएँ साहित्यिक रूप लेने लगी थीं, बल्कि 'फ़ारसी और संस्कृत में आपस में संवाद था। इसके सबसे बड़े प्रमाण रीतिकाल के कवि हैं जो अपने ढंग से ग़ज़ल लिख रहे थे, रुबाई लिख रहे थे, दोहा जवाब था ग़ज़ल के शेर का। जिसे हमारे इतिहासकारों ने उत्तर-मध्यकाल कहा है, ग़दर के पहले तक का काल, वो उर्दू शायरी में नज़ीर अकबराबादी, मीर और ग़ालिब का काल है, गोल्डेन पीरियड है। ठीक उसके समांतर हिंदी में जो कविता लिखी जा रही है, उसे क़ायदे से स्वर्ण युग कहने के बजाय पतन का युग कहा जाता है।' नामवरजी ने ग्रियर्सन और मेक्ग्रेगर की एक मिली-जुली ग़लती भी बताई है कि उन्होंने उर्दू साहित्य के इतिहास अलग से लिखे। चूँकि यही आलोचना शुक्लजी की भी हो सकती है और होती रही है कि उन्होंने उर्दू की काव्य-परम्परा को हिंदी साहित्य के इतिहास में स्थान नहीं दिया,[30] इसलिए क्या उनके ये दोनों कथन इशारा नहीं देते कि अब ज़रूरत हिंदी साहित्य और उर्दू साहित्य के मिले-जुले इतिहास-लेखन की है?

लेकिन हिंदी में ऐसे विद्वानों का उल्लेखनीय सिलसिला भी है जो चालीस के दशक से ही रीतिकाल-संहार के इस रवैये के प्रति न केवल चेताते रहे हैं, बल्कि द्विवेदी-शुक्ल साहित्येतिहास का

[29] नामवर सिंह (2012), वही : 37.

[30] कृष्ण कुमार (1990), 'हिंदू रिवाइवलिज़म ऐंड एजुकेशन इन नॉर्थ इण्डिया', *सोशल साइंटिस्ट*, खण्ड 18, अंक 10 : 4-26.

17abhay:Layout 1 2/5/2016 3:57 PM Page 596

वैकल्पिक विमर्श पेश करते रहे हैं। शुक्ल-रचित हिंदी साहित्य का इतिहास 1929 में पहली बार प्रकाशित हुआ, और उसका प्रचलित वर्तमान संशोधित-परिवर्धित स्वरूप 1940 में छपा। साल भर बाद ही हजारी प्रदास द्विवेदी द्वारा लिखित वह बारह पन्नों की सघन टिप्पणी सामने आ गयी जिसका शीर्षक 'रीति-काव्य' था और जो हिंदी साहित्य की भूमिका का एक हिस्सा थी। इन बारह पृष्ठों की एक-एक पंक्ति शुक्लजी की रीतिकाल संबंधी इतिहास-दृष्टि का गहन प्रति-आख्यान थी, लेकिन इस रचना का शिल्प इतिहास-लेखन का न हो कर सांस्कृतिक-विमर्श जैसा था। इसलिए यह सिर्फ़ एक हस्तक्षेप बन कर रह गया। हजारी प्रसादजी की शिष्य-परम्परा को इन बारह पृष्ठों के आधार पर हिंदी का कोई समांतर साहित्येतिहास लिखने की प्रेरणा प्राप्त नहीं हुई। न ही इन शिष्यों ने लोक-प्रचलित प्रेम गाथाओं के बदल रहे जेण्डर-समीकरण और उसकी रीतिकालीन अभिव्यक्ति को रेखांकित करने में दिलचस्पी दिखाई। हजारी प्रसादजी ने *कामसूत्र* की परम्परा और मध्ययुगीन संस्कृत साहित्य के बीच जिस रचनात्मक पुल की चर्चा करके उसका संबंध रीतिकालीन साहित्य से जोड़ा था, उसकी तो किसी ने भूल से भी चर्चा नहीं की। यानी न तो उसमें दिलचस्पी दिखाई गयी जो लोक में हो रहा था, और न उसमें जो शास्त्र में घटित हो रहा था। इस प्रकार हजारी प्रसादजी के विमर्श का रीतिकालीन अंश नियोजित ढंग से अदृश्य कर दिया गया।

सुधीश पचौरी ने मौलिक प्रस्तावना की : अगर रीतिकाल में कला की रचना किन्हीं सामाजिक उद्देश्यों के लिए न हो कर महज़ कला की ख़ातिर ही की जा रही थी, तो फिर उसे प्रि-मॉडर्न या प्राक्-आधुनिक क्यों नहीं समझा जाना चाहिए? क्या रीतिकालीन काव्य ठेठ उत्तर-भारतीय क़िस्म का रूपवाद नहीं था?

चालीस के दशक में ही मार्क्सवादी आलोचक केसरी नारायण शुक्ल की रचना *आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत* प्रकाशित हुई। इस पुस्तक की तरफ़ प्रदीप सक्सेना ने 2000 में प्रकाशित अपने आलेख 'अर्थात् मार्क्सवादी आलोचना के उन भूले-बिसरे पन्नों पर ऐसा क्या लिखा है ... ?' में विस्तार से ध्यान खींचा। केसरी नारायण ने 'रीतिकाल को नीचता का दौर और पतन का युग मानने के बजाय स्वाभाविक ऐतिहासिक चरण माना' और 'काव्य का प्रेम युग' क़रार दिया। उन्होंने रीतिकाल को काव्य के साथ-साथ चित्रकला (लखनऊ, जयपुर, जोधपुर और कांगड़ा की शैलियाँ) और संगीत की उन्नति का दौर बताने के साथ-साथ इस दौर को उर्दू कविता के स्वर्ण-युग की तरह भी रेखांकित किया। केसरी नारायण का विवेचन इस मान्यता पर आधारित था कि नैतिक और राजनीतिक उन्नति या अवनति को कला और संस्कृति के क्षेत्र में होने वाली उन्नति या अवनति का पर्याय नहीं माना जा सकता। उन्होंने यह भी कहा कि उन्नीसवीं और बीसवीं सदी की वैचारिक मान्यताओं के आधार पर रीतिकालीन काव्य की विवेचना करना उचित नहीं है।[31] अपने आलेख में प्रदीप सक्सेना ने यह भी जानकारी दी है कि वे भी अपने एक पर्चे 'सांस्कृतिक संकट गहरा रहा है' में रीतिकाल के पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता पर ज़ोर दे चुके हैं।

जेण्डर और सेक्शुअलिटी के लिहाज़ से इस संबंध में सर्वाधिक समर्थ हस्तक्षेप सुधीश पचौरी ने 2001 में किया जब दो खण्डों में उनका

[31] केसरी नारायण शुक्ल (सं. 2004/1947), देखें, प्रदीप सक्सेना (2000), *पहल : मार्क्सवादी आलोचना विशेष* : 287-350.

लम्बा निबंध 'रीतिकाल में फ़ूको-विचरण' का प्रकाशन हुआ। इस विचारणीय आलेख में पचौरी ने महावीरप्रसाद द्विवेदी से ले कर रामचंद्र शुक्ल होते हुए रामविलास शर्मा तक हिंदी के साहित्येतिहास को स्त्री की यौनता (सेक्शुअलिटी) के दमन की क़वायद बताया। उनके अनुसार यह क़वायद तब तक पूरी नहीं हो सकती थी जब तक रीतिकाल के दो सौ वर्षों को अँधेरे युग की संज्ञा न दी जाती और स्त्री के अंगों के वर्णन को अश्लीलता की श्रेणी में न डाला जाता। सुधीश पचौरी ने अपने विश्लेषण के ज़रिये यह भी दिखाया कि नगेंद्र और भगीरथ मिश्र द्वारा रीतिकाल से जताई गयी हमदर्दी किस तरह उस अपराध-बोध से ग्रस्त थी जो द्विवेदी-शुक्ल परम्परा ने हिंदी पर थोपा था। सुधीश ने प्रस्ताव किया कि एक तरफ़ साहित्येतिहास के औज़ार से यौनता के नियंत्रण का काम लिया जा रहा था, दूसरी तरफ़ रीतिकाल के आचार्य-कवियों के ही नहीं क़रीब एक दर्जन से अधिक रीतिकालीन कवयित्रियों का साहित्य बताता है कि वह काव्यकला और यौनता के प्रशिक्षण का युग है। पचौरी ने एक और मौलिक प्रस्तावना की : अगर रीतिकाल में कला की रचना किन्हीं सामाजिक उद्देश्यों के लिए न हो कर महज़ कला की ख़ातिर ही की जा रही थी, तो फिर उसे प्रि-मॉडर्न या प्राक्-आधुनिक क्यों नहीं समझा जाना चाहिए? क्या रीतिकालीन काव्य ठेठ उत्तर-भारतीय क़िस्म का रूपवाद नहीं था? सुधीश पचौरी द्वारा उठाए गये इस प्रश्न में हम यह भी जोड़ सकते हैं कि क्या उसे हमें वही स्थान नहीं देना चाहिए जो किसी ज़माने में रशियन फ़ॉर्मलिज़म को दिया गया था?[32]

हिंदी के नवांकुरित नारीवाद ने बड़ी तत्परता से द्विवेदी-शुक्ल-शर्मा परम्परा से एक शब्द भोगवाद ग्रहण कर लिया है। वैसे तो स्त्री-विमर्शकारों ने रीतिकाल से परहेज़ ही किया है, पर यदि कहीं निगाह डाली भी गयी है तो यह दिखाने के लिए रीतिकालीन भोगवाद की जड़ भक्तिकालीन शृंगार में है और इसकी ज़िम्मेदारी तुलसीदास और सूरदास वगैरह पर डाली जानी चाहिए।[33] यह तर्क भले ही अधकचरे और सरलीकृत फ़ेमिनिज़म का संकेत दे, पर इसमें भी साहित्येतिहास लेखन के लिए नये प्रस्ताव छिपे हैं। इस तर्क की अनुसंधानपरक वैधता पर विस्तार से विचार करते समय देखना होगा कि भोगवाद के इस प्रत्यय में शुद्धतावाद, परम्परावाद और सामाजिक-सांस्कृतिक अनुदारतावाद के घटक कितने प्रतिशत काम कर रहे हैं। साथ में यह पड़ताल करनी होगी कि राधा-कृष्ण के युगल ने भक्तिकाल से रीतिकाल तक की यात्रा कैसे की और इन दोनों सांस्कृतिक मुक़ामों के बीच उसमें क्या-क्या तब्दीलियाँ आयीं। इस जाँच के लिए कई तरह के आईनों का इस्तेमाल करना होगा, जिनमें एक आईना यह भी है कि आधुनिक हिंदी कविता अपने प्रियप्रवासीय संस्करण के बाद राधा के किरदार को कैसे पहले बदलती है और फिर विलुप्त कर देती है। दूसरी तरफ़, हिंदी के नारीवादी विमर्श का एक अपवादस्वरूप पहलू भी है जो एक तरफ़ संस्कृत-साहित्य से लिए गये ब्रजभाषा के नायिका-भेद की समाजशास्त्रीय जाँच-पड़ताल करने की अपील करता है, और दूसरी तरफ़ रीतिकाल पर छाये हुए शृंगार रस के स्रोत को संस्कृत-साहित्य के काव्यशास्त्रीय उद्गम में न देख कर ग्राम्य-गीतों की उस परम्परा में देखने का आह्वान करता है जो मुख्यत: ग्रामीण स्त्रियों की रचनाशीलता के साथ जुड़ी हुई है।

पहली नज़र में देखने में यह तो लगता ही है कि नायिकाओं के बीसियों भेदाभेद न तो जाति के ज़रिये संसाधित होते हैं, न धर्म के ज़रिये। वे चमड़ी और आँखों के रंग के माध्यम से भी संसाधित नहीं होते। इस लिहाज़ से वे सेकुलर भी हैं और नस्लवाद से भी ताल्लुक़ नहीं रखते। देखना यह होगा कि वे कहीं तात्त्विकतावादी तो नहीं हैं। उनका इसेंशियलिज़्म किस क़िस्म का है? शृंगार रस और ग्राम्य-गीतों के आपसी रिश्ते के रीतिकालीन अंजाम का संधान करते ही दो तरह की सम्भावनाएँ

---

[32] सुधीश पचौरी (2001-2002), 'रीतिकाल में फ़ूको विचरण', *बहुवचन,* अंक 9 और 10 : 175-198, 128-147.
[33] अनुराधा (2009), 'स्त्री-वस्तुकरण की प्रक्रिया और राधा का विकास', *फ़िलहाल,* मई.

17abhay:Layout 1 2/5/2016 3:57 PM Page 598

खुलती हैं : पहली, रीतिकालीन कविता के लोक से रिश्तों की संरचनाएँ दिखने लगती हैं और द्विवेदी–शुक्ल–शर्मा परम्परा द्वारा उस पर निरंतर डाली जाने वाली दरबारी कविता की बेरहम रोशनी नेपथ्य में चली जाती है। यह सम्भावना दिखाती है कि गणिकालयों, महलों, रनिवासों और हरमों में होने वाली जेण्डर और सेक्शुअलिटी की अन्योन्यक्रिया जब रीतिकाल में जन–भाषा के सहारे ग्रामीण जीवन, खेतों–खलिहानों, पनघट और पारिवारिक रिश्तों के संसार में क़दम रखती है तो समाज और परम्परा की नयी आलोचना मुमकिन होने लगती है। दूसरी, उस लोक के विन्यास की जाँच भी करने की नौबत आती है जो रामचंद्र शुक्ल के विमर्श में परम्परानिष्ठ अंदाज़ में लोक–मंगल बन कर प्रकट होता है और रामविलास शर्मा के विमर्श में तो लोक–जागरण बन कर मार्क्सवादी आभा से दमकता हुआ मिथकीय आयाम ग्रहण कर लेता है। ख़ास बात यह है कि एक तीसरा प्रगतिशील लोक भी है जिसके पैरोकार उसे शुक्ल–शर्मा के लोकों से भी ज़्यादा रैडिकल मानते हैं। यह है लोहिया का लोक जिसका प्याला सेक्सिस्ट भाषा की चुगली भी खाता है।

रीतिकाल पर अंग्रेज़ी में काम करने वाले विदेशी विद्वानों में प्रमुख कालीचरण बहल, एलिसन बुश, स्टुअर्ट मेक्ग्रेगर, रुपर्ट स्नेल और इमरे बंगा अपने रीतिकाल संबंधी विमर्श में साहित्येतिहास संबंधी कुछ महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पेश करते हैं जिनसे नयी सम्भावनाएँ खुलती हैं। पहला प्रस्ताव तो वही है जो सुधीश पचौरी ने रखा था कि रीतिकाल को लिटरेरी साइंस या काव्य–कला के प्रशिक्षण के युग की तरह देखा जाए, एक ऐसे युग की तरह जिसमें कविता करने की पद्धतियाँ संस्कृत से लोक–प्रचलित ब्रजभाषा में प्रवाहित हो कर ख़ुद को बेहद रचनाशील नवाचार के गुज़रते हुए देख रही थीं। यह प्रक्रिया एकतरफ़ा और बेलौस नहीं थी। इसमें व्यक्तिगत और सामाजिक दुविधाएँ थीं जो देवभाषा और ब्रजभाषा के बीच प्रबल डायग्लॉसिकल संबंधों के चलते एक सांस्कृतिक द्वैध में परिवर्तित हो जाता था। दूसरा प्रस्ताव इतिहास–लेखन की पूरी दृष्टि को नये सिरे से नियोजित करने का है जिसकी अभिव्यक्ति हिंदी के एक अपेक्षाकृत युवा विमर्श (राजकुमार) में इस प्रकार देखी जा सकती है :

> रामचंद्र शुक्ल हिंदी साहित्य की परम्परा के श्रेष्ठ तत्वों का प्राय: एक ठेठ उत्तर भारतीय के अंदाज़ में मूल्यांकन करते प्रतीत होते हैं। साहित्य की श्रेष्ठता के मानक और भारतीय इतिहास का उनका बोध, इस दौर के बहुत सारे दूसरे विद्वानों की तरह, तत्कालीन ऐतिहासिक लेखन से निर्धारित और प्रभावित लगता है। विशेष रूप से भक्ति के अभ्युदय की जिस प्रकार से उन्होंने व्याख्या की है, उस पर बिल्कुल नये सिरे से विचार करने की आवश्यकता है। इसी प्रकार शृंगार और भक्ति को लेकर उन्होंने जो निर्णय दिये हैं, उस पर विक्टोरियाकालीन नैतिक मूल्यों की गहरी छाप है। यह ज़रूर है कि इसे वे ठेठ भारतीय मर्यादा के आदर्श के रूप में तुलसी के हवाले से प्रस्तुत करते हैं। उनके लेखन में थोड़ी बहुत रियायत के बावजूद शृंगारपरक रचनाओं को ज़्यादा तरजीह नहीं दी गयी। शृंगार और भक्ति में वे कभी संगति नहीं खोज पाते जबकि भारतीय परम्परा में शृंगार और भक्ति को कई बार तो अलग कर पाना ही मुश्किल है। सूज़न श्वार्ज़ ने अपनी रचना *रस* में इस बात की ओर संकेत किया है कि भारतीय परम्परा में शृंगार और भक्ति के बीच कोई आत्यंतिक विरोध नहीं है, बल्कि वे एक ही सातत्य का हिस्सा हैं। यह बात ठीक भी लगती है, क्योंकि इसके बिना खजुराहो और कोणार्क को तो छोड़ ही दीजिए, कबीर, जायसी, सूर और मीरा की रचनाओं की भी व्याख्या असम्भव है। भक्ति और शृंगार के सातत्य और सहअस्तित्व की अवधारणा से भक्तिकालीन शृंगार के रीतिकालीन शृंगार में रूपांतरण की व्याख्या भी कमोबेश हो जाती है। ... समस्या यह भी है कि रीतिकालीन अध्ययन की शुरुआत ही हम यह मानकर करते हैं कि यह पतन का दौर था और इस दौर के ज़्यादातर कवि दरबारी थे। पतन का दौर क्यों ? इसलिए कि इतिहासकारों ने ऐसा बताया है। लेकिन पिछले दशकों में इतिहासकारों ने अपने महत्त्वपूर्ण शोधों से इस अवधारणा को तोड़ दिया है कि यह दौर पतन का दौर था। विशेष रूप से सी.ए. बेली, मुज़फ़्फ़र आलम और संजय सुब्रह्मण्यम जैसे इतिहासकारों के काम से यह बात साफ़ हो चली है कि यह दौर पतन का दौर नहीं था। यदि रीतिकालीन साहित्य के वैविध्य पर विचार करें तो फ़िलहाल एक मोटा निष्कर्ष ज़रूर

> निकाला जा सकता है कि यह साहित्य लौकिकता और ऐतिहासिकता की ओर अग्रसर हो रहे समाज का साक्षात्कार कराता है। यह ज़रूर कहा जाना चाहिए कि समूचे रीतिकालीन साहित्य के वैविध्य को व्याख्यायित करने के लिए हमारे पास अब भी कोई पर्याप्त विकसित सैद्धांतिकी उपलब्ध नहीं है। हिंदी के विद्वानों ने तो इस काल की उपेक्षा की ही, इतिहासकार भी लम्बे समय तक इस दौर के महत्त्व को ठीक से नहीं समझ पाए। इसलिए किसी पर तोहमत मढ़ने से ज़्यादा ज़रूरी काम यह है कि हम विचार करें कि रीतिकालीन साहित्य का ज़्यादा व्यवस्थित और सार्थक अध्ययन कैसे किया जाए। भक्तिकालीन साहित्य के अध्ययन के पुराने तौर-तरीक़ों से मुक्त हुए बिना रीतिकालीन साहित्य के साथ भी न्याय नहीं किया जा सकता है। अभी तक तो हमारे पास भक्तिकाल के अध्ययन के लिए भी उपयुक्त सैद्धांतिकी उपलब्ध नहीं थी।[34]

प्रश्न यह है कि वह उपयुक्त सैद्धांतिकी कहाँ से आएगी जो भक्तिकाल से लेकर रीतिकाल और फिर आधुनिक काल को अपने आगोश में समेटते हुए हिंदी साहित्य का नया इतिहास रचने का आधार बन सके? इस प्रश्न का उत्तर जिस तरह की सैद्धांतिक कुशलता और बहुअनुशासनीय विद्वत्ता की अपेक्षा करता है, वह हिंदी आलोचना के मौजूदा परिदृश्य में अनुपलब्ध है। वह केवल समाज-विज्ञान और मानविकी के औज़ारों का इस्तेमाल करने वाले साहित्य-अध्ययन की दुनिया में ही मिल सकती है। इस सैद्धांतिकी को टटोलने का एक प्रस्ताव इस प्रकार हो सकता है :

रामचंद्र शुक्ल द्वारा रचित *हिंदी साहित्य का इतिहास* 1929 में प्रकाशित हुआ। इस समय तक आई.ए. रिचड्र्स की रचना *प्रिंसिपल्स ऑफ़ लिटरेरी क्रिटिसिज़म* का 1924 में प्रकाशन हो चुका था। हिंदी साहित्येतिहास के अधिकतर विमर्शकार इस तथ्य से सूचित हैं कि शुक्लजी व्यावहारिक आलोचना (प्रैक्टिकल क्रिटिसिज़म) के पितामह रिचड्र्स के सिद्धांतीकरण से प्रभावित थे। शुक्लजी के इतिहास का संशोधित और परिवर्धित रूप (जिस रूप में उसे आज हम पढ़ते हैं) 1940 में सामने आया। इन दस वर्षों के दौरान युरोप के ग़ैर-अंग्रेज़ी इलाक़ों में साहित्य के इतिहास-लेखन को लेकर जो सरोकार विकसित किये गये, उन्हें जानने-समझने की सुविधा भारतीय बुद्धिजीवियों के पास नहीं थी। वह तीस का ही दशक था जब जर्मनी में वाल्टर बेन्यामिन साहित्येतिहास के जर्मन-संदर्भ में नयी अंतर्दृष्टियों की क़लमें लगा रहे थे। उन का कहना था :

> इतिहास-लेखन के पहले चरण में मोंटाज का उसूल अपनाना होगा। अर्थात् छोटे से छोटे करीने से कटे-छँटे तत्त्वों के ज़रिये बड़े पैमाने की संरचनाएँ खड़ी करनी होंगी। दरअसल, असली कार्यभार यही है कि कैसे सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्त्वों का विश्लेषण करते हुए सम्पूर्णता का प्रिज़्म हासिल किया जाए, और इस प्रक्रिया में अतिसरलीकृत ऐतिहासिक स्वाभाविकतावाद की जकड़ से छूट कर इतिहास-लेखन की सृजनशील प्रकृति उपलब्ध कर ली जाए। ...[35]

बेन्यामिन यह मानने को तैयार नहीं थे कि ऐतिहासिक भौतिकवाद किसी तरह के समरूप या अविच्छिन्न इतिहास की वकालत करता है। वे इस आधार पर अधिरचना की सतत निर्भरता की दलील के क़ायल भी नहीं थे। उनका कहना था कि अधिरचना आधार पर असर डालती है, इसलिए न तो अर्थव्यवस्था या विधि-व्यवस्था का समरूप इतिहास मुमकिन है और उसी तर्ज़ पर साहित्य का भी समरूप इतिहास सम्भव नहीं है। चूँकि अतीत के विभिन्न युगों का अक़्स इतिहासकार अपने वर्तमान के आईने कभी कम या कभी ज़्यादा देखता है, इसलिए इतिहास-लेखन में रैखिक निरंतरता स्वीकार नहीं की जा सकती।

---

[34] राजकुमार (2013), 'हिंदी साहित्य का इतिहास : नये परिप्रेक्ष्य', अभय कुमार दुबे (सम्पा.), *समाज-विज्ञान विश्वकोश,* खण्ड 6, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली : 2181-2184.

[35] वाल्टर बेन्यामिन (1983/1984), *दास पैसेजन-वेर्क,* राल्फ़ टिडरमान (सम्पा.) 2 (फ्रेंकफ़र्ट ए, एम : सुहरकैम्प) : 575.

17abhay:Layout 1 2/5/2016 3:57 PM Page 600

इसमें कोई शक नहीं कि रामचंद्र शुक्ल का इतिहास और उसके बाद लिखे गये हिंदी साहित्य के सभी इतिहास रैखिक निरंतरता के ही इतिहास हैं। इसी एक रेखीयता के कारण उनमें सामग्री की प्रस्तुति लेखक, उसकी रचना के शीर्षक और शैली संबंधी विवेचन के क्रमानुसार हुई है। कहना न होगा कि बीसवीं सदी के शुरुआती दशकों में साहित्येतिहास का कोई और नमूना उपलब्ध ही नहीं था। इस रवैये को शेल्डन पोलोक ने 'प्रत्यक्षवादी कालक्रमानुसार विधि' क़रार दिया है, जो उनके अनुसार न केवल साहित्य अकादेमी द्वारा लिखवाए गये बहुखण्डीय इतिहास में अपनाई गयी, बल्कि सत्तर के दशक से ही हॉलेंड में प्रकाशित हो रहे भारतीय साहित्य के इतिहास में भी अख़्तियार की गयी। विद्वानों ने इस कालक्रमीय प्रत्यक्षवाद के नुक़सान भी गिनाए हैं : इसके तहत उपलब्ध या खोजी गयी सामग्री का विश्लेषण एक ऐसी पृष्ठभूमि के बरअक्स किया जाता है जो लगातार स्थिर और अ-व्याख्यायित रहती है। इतिहासकार बार-बार उस सुसंगत और स्थावर पृष्ठभूमि के हवाले से अपने निष्कर्ष निकालता है। बदलाव अगर होता है तो केवल तिथियों, नामों, रचनाओं और शैलियों में। इसका नतीजा लेखक की हस्ती पर एक तरह की अनन्यता आरोपित करने में निकलता है। रचनाएँ महान या कम-महान क़रार दी जाती हैं। इस इतिहास-लेखन के पृष्ठों पर साहित्य जन्म लेने, विकसित होने और अप्रासंगिकता की तरफ़ जाने के लिए अभिशप्त रहता है। इन तीन अनिवार्य चरणों में कई प्रश्न अ-सम्बोधित रह जाते हैं। जैसे, साहित्यिक भाषाओं की रचना कैसे होती है, स्थापित साहित्यिक भाषा दूसरी साहित्यिक भाषा के लिए कैसे जगह ख़ाली करती है, इस पूरी प्रक्रिया में सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियाँ अपने विरोधाभासों के साथ क्या भूमिका निभाती हैं।

साहित्य-अध्ययन रिचर्ड्स द्वारा प्रतिपादित व्यावहारिक आलोचना से शुरू करके नव-आलोचना (न्यू क्रिटिसिज़म) के रास्ते होता हुआ नव-ऐतिहासिकतावाद (न्यू-हिस्टोरिसिज़म) तक और फिर कुछ-कुछ उसी रास्ते पर चलते हुए उससे थोड़ा आगे जा कर साहित्यिक संस्कृतियों (लिटरेरी कल्चर्स) के प्रत्यय तक पहुँच चुका है। हिंदी में साहित्य के इतिहास को नये सिरे से लिखने की किसी भी परियोजना के पास आज निकट अतीत के किसी भी समय के मुक़ाबले कहीं अधिक सैद्धांतिक सामग्री और विश्लेषणात्मक मुक़ाम हैं। नव-ऐतिहासिकतावाद और साहित्य के प्रभाव में साहित्येतिहास का डूब-क्षेत्र विस्तृत और विशाल होने लगा है। साहित्यिक ही नहीं बल्कि ग़ैर-ऐतिहासिक समझी जाने वाली सामग्री (जैसे, चित्रकला की कृतियाँ, फ़िल्में, फ़ोटोग्राफ़, स्मारक, धर्म-विधियाँ, दैनंदिन जीवन के मिथक, क़िस्म-क़िस्म के रीति-रिवाज़, प्रतीकों और संकेतों दृश्य-अदृश्य संसार) अपनाने और साहित्य के साथ उसके चौतरफ़ा संबंधों पर विचार करने की अनुशंसाएँ हिंदी साहित्य के इतिहासकारों की प्रतीक्षा कर रही हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि उच्च-कोटि के साहित्य के रूप में स्थापित हो चुके पाठ का महत्त्व साहित्येतिहास की इस नयी शैली में कम होगा, बल्कि उसके पास उस पाठ को नये संदर्भों के आलोक में प्रकाशित करने का एक ऐसा मौक़ा होगा जो पहले उपलब्ध था ही नहीं। इस प्रक्रिया में उस पाठ से ऐसे नये तात्पर्य निकल सकते हैं जिन्हें प्राप्त करना पहले साहित्येतिहास के इरादों से बाहर था।

आज हिंदी साहित्य के नये इतिहासकार के सामने साहित्यिक तिलिस्म में प्रवेश करने के कई द्वार हैं। इस सुविधा की वजह यह है कि वह जिस पृष्ठभूमि में इतिहास की रचना करने बैठेगा वह पहले की तरह अनिवार्यत: स्थिर और अति-वस्तुगत नहीं रह गयी है। उत्तर-आधुनिकता और उत्तर-औपनिवेशिकता जैसे विमर्शों के प्रभाव में वह पृष्ठभूमि तरल हो गयी है, जबकि पहले अपने-अपने पसंदीदा राष्ट्रवादों और मार्क्सवादों के प्रभाव में महा और परम समझे जाने वाले आख्यानों के जकड़ में ठोस हो गयी थी। दरअसल, उसका यह अपरिवर्तनीय ठोसपन ही उसकी गुणवत्ता के रूप में ग्रहण किया जाता था। इतिहासकार स्वयं एक ठोस पृष्ठभूमि की रचना करने के बाद उसके साथ लगातार निष्ठापूर्वक बँधा रहता था (ठीक उसी तरह जैसे रामचंद्र शुक्ल ने स्वयं-परिभाषित चित्तवृत्तियों के ज़रिये एक 'लोक' नामक शै बनाई और फिर साहित्य के कंधों पर उसके 'मंगल' का ज़िम्मा डाल दिया। रामविलास शर्मा ज़्यादा से ज़्यादा इस 'मंगल' का नामकरण संस्कार 'जागरण' के रूप में कर

17abhay:Layout 1 2/5/2016 3:57 PM Page 601

पाए)। उसे न तो मनमाने उत्तर-आधुनिकतावाद के चक्कर में फँसने की ज़रूरत है, और न ही उसे उत्तर-औपनिवेशिकता से बँधा रहना है। नये इतिहासकार को साहित्यिक पाठ की जाँच कई पहलुओं से करके तय करना होगा कि उसे वह किसी प्रवृत्ति, किस श्रेणी और किस परम्परा में फ़िट करे। उसे हर हालत में जाति, जेण्डर, सेक्शुअलिटी, परिवार, विवाह, अस्मिता, श्रम, फ़ुरसती जीवन, स्वास्थ्य, सफ़ाई, प्राइवेसी जैसी विविध रोशनियों में साहित्य के उत्पादन और उसकी परिवर्तनशील सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की जाँच करनी होगी। भारतीय समाज में साधारण-जन से लेकर अभिजन तक राजनीति का महत्त्व आज बहुत बढ़ चुका है। तीस के दशक में इस महत्त्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। आज के इतिहासकार को लाज़िमी तौर पर देखना होगा कि सांस्कृतिक उत्पादन का संसार समाज और राजनीति के साथ सीधा, आड़ा या तिरछा संबंध किस तरह बनाता रहा है। आर्थिक, प्रौद्योगिकीय और संचार-क्रांति के अधीन मीडियाटाइज़्ड विकास ने सांस्कृतिक जीवन और उसकी रचनाशीलता में नये परिप्रेक्ष्यों, विषयों और भाव-भूमियों का प्रवेश किया है। साहित्येतिहास का उससे क्या संबंध होगा— शायद यह नव-ऐतिहासिकतावाद के लिए भी एक खुला हुआ सवाल है।

संदर्भ

एलिसन बुश (2011), *पोएट्री ऑफ़ किंग्ज़ : द क्लासिकल हिंदी लिट्रेचर ऑफ़ मुग़ल इण्डिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, यूएसए.

कालीचरण बहल (1974), 'द हिंदी 'रीति' ट्रैडिशन ऐंड द 'रसिकप्रिया' ऑफ़ केशवदास : ऐन इंट्रोडक्टरी रिव्यू', *जर्नल ऑफ़ साउथ एशियन लिटरेचर,* खण्ड 10, अंक 1.

कालीचरण बहल (1984), 'द ट्विन इमेज ऑफ़ राधा-कृष्ण इन द भक्ति लिटरेचर ऑफ़ नार्दर्न इण्डिया ऐण्ड इट्स इम्पैक्ट ऑन द 'रीति' पोएट्री इन द हिंदी एरिया', *जर्नल ऑफ़ साउथ एशियन लिटरेचर,* खण्ड 19, अंक 2.

केसरी नारायण शुक्ल (सं. 2004/1947), *आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत,* सरस्वती मंदिर, काशी.

डॉ. नगेंद्र (1949), *रीतिकाव्य की भूमिका,* नेशनल पब्लिशिंग हाउस, अंसारी रोड, नयी दिल्ली.

नामवर सिंह (2008), *दूसरी परम्परा की खोज,* राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

नामवर सिंह (2012), 'रीतिकाव्य : पुनर्विचार', *साहित्य की पहचान,* आशीष त्रिपाठी (सम्पा.), राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

नित्यानंद तिवारी (2001), 'साहित्य के इतिहास का नया दृष्टिकोण', *वसुधा-51,* अतिथि सम्पादक : विश्वनाथ तिवारी, नयी दिल्ली.

प्रदीप सक्सेना (2000). 'अर्थात् मार्क्सवादी आलोचना के उन भूले-बिसरे पन्नों पर ऐसा क्या लिखा है ... ?' *पहल : मार्क्सवादी आलोचना विशेष,* (अतिथि सम्पा. प्रदीप सक्सेना), अंक 64-65.

महावीर प्रसाद द्विवेदी (1901), 'नायिका-भेद', *रसज्ञ-रंजन* पुस्तक में संकलित, भारत यायावर (सम्पा.) (2011), *महावीरप्रसाद द्विवेदी रचनावली,* दूसरा खण्ड, किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली.

बच्चन सिंह (1996/2013), *हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास,* राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली.

रवींद्र कुमार पाठक (2013), 'भक्ति-साहित्य की मूल्य-संरचना और स्त्री', *समांतर दृष्टि की राह,* यश पब्लिकेशंस, दिल्ली.

रामचंद्र शुक्ल (1940/2007), *हिंदी साहित्य का इतिहास,* लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.

रामविलास शर्मा (1981), 'रीतिकालीन काव्य-परम्परा', *परम्परा का मूल्यांकन,* राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

वसुधा (विशेषांक, स्त्री : मुक्ति का सपना), अरविंद जैन और लीलाधर मण्डलोई (अतिथि सम्पा.), अंक 59-60.

सुधीश पचौरी (2001-2002), 'रीतिकाल में फ़ूको विचरण', *बहुवचन,* अंक 9 और 10.

स्टुअर्ट आर. मेक्ग्रेगर (2003), 'दि डिवेलपमेंट ऑफ़ अ ट्रांसरीजनल ईडियम', शेल्डन पोलोक (सम्पा.), *लिटरेरी कल्चर्स इन हिस्ट्री : रिकंस्ट्रक्शंस फ्रॉम साउथ एशिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

हजारी प्रसाद द्विवेदी (1981), *हिंदी साहित्य की भूमिका, हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली,* खण्ड तीन, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.